रेखा और रंग

आचार्य श्री. विनय मोहन शर्मा की

अन्य साहित्यक कृतियाँ

साहित्य-कला

भूले गीत

कविप्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ

दृष्टिकोण

साहित्यवलोकन

गीत गोविन्द

हिन्दी को मराठी संतों की देन (प्रेस में)

रेखा और रंग

आचार्य श्री विनय मोहन शर्मा एम. ए.
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
नागपुर विश्व विद्यालय

प्रज्ञा
(प्रकाशन-गृह)
नागपुर.

प्रकाशिका :
कमल कुमारी
नन्हूमल बिल्डिंग
बजरिया, नागपुर-२.

प्रथम आवृत्ति, अक्टूबर १९५५.

मूल्य २)

मुद्रक :
डी. पी. देशमुख
बजरंग मुद्रणालय
कर्नलबाग, नागपुर-२.

जीवन स्वयं, क्षणों के अनेक बिन्दुओं से बनी सीधी-टेढ़ी रेखा है। यह रेखा कभी वेग से दौड़ती है, कभी धूमिल हो जाती है। कभी वृत्त बनाती है, तो कभी त्रिकोण। कभी दो रेखायें एक दूसरे के समानान्तर दिखाई देती हैं, कभी एक-दूसरे को काटतीं।

रंग के बिना रेखा की कल्पना तो की जा सकती है पर उसे देखा नहीं जा सकता। 'संस्कृति' ही यह रंग है। संस्कृति, धन, पद या प्रतिष्ठा की मोहताज नहीं होती। वह ऊपर से पहनी हुई सफेद धुली पोशाक नहीं है, न अंतर का कलुष ही उससे छिपाया जा सकता है। वह तो भीतर से फूट कर बहने वाला झरना है। सभी वर्गों में संस्कृति के प्रतिनिधि दिखाई देते है जो दृष्टा है वही उन्हें देख पाता है। आचार्य विनय मोहन जी ने 'शंकर' व 'डबली बाबू' को देखा और उन्हें अमर कर दिया। उनके यह रेखा-चित्र मैंने देखे। उन्होंने मेरे अन्तस्तल को छू लिया। मैंने शर्माजी से कुछ अन्य रेखा-चित्र लिख देने की प्रार्थना की जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। उन्हीं का यह कृति-रूप में संकलन है।

आचार्य श्री. विनय मोहन शर्मा की इस पुस्तक 'रेखा और रंग' को आपके हाथों में देते हुए मुझे कितनी प्रसन्नता हो रही है, यह कहा नहीं जा सकता। जब मेरी पुस्तक 'कला-यात्री' मिशनरी ढंग से निकली तब सोचा भी न था कि सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र देकर 'लेखन और प्रकाशन' को ही 'सर्व-भावेन' अपनाना होगा। संघर्षों का तूफान चल रहा था और मैं श्रद्धा की चट्टान के सहारे टिका खड़ा था। सहृदय पाठकों में

'कला-यात्री' की लोकप्रियता और साहित्य-मनीषियों द्वारा प्रोत्साहन—
बस यही दो चीजें मन को आश्वस्त कर रही थीं। उन्हीं दिनों श्रद्धेय
पं. बनारसीदास जी चतुर्वेदी, भदंत आनन्द जी कौसल्यायन और भाई
प्रभाकर जी माचवे के जिन स्नेह-पूर्ण पत्रों से नैतिक बल मिला, वे क्या
भूलने की चीज हैं?

प्राच्य-विद्याओं के जिन महान ज्योतिर्धर,—डा० हीरालाल जी जैन,
डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, डा० वासुदेव शरणजी अग्रवाल तथा महा पंडित
राहुल सांकृत्यायन जी का वरद-हस्त सदैव मेरे सिर पर रहा है, वे ही
'प्रज्ञा' के पथ को भी आलोकित कर रहे हैं। इन गुरु-जन के आशीर्वाद और
परामर्श से,—मुझे विश्वास है कि मैं आपके हाथों में श्रेष्ठ साहित्य दे सकूँगा।

जगदीशचन्द्र

शंकर को

अनुक्रम

लेखक

भूमि

ललित वाङ्मय के अन्तर्गत जो नूतन विधायें आविर्भूत हुई हैं, उनमें रेखा-चित्र का विशिष्ट स्थान है। उसकी निश्चित प्रवृत्ति को रेखाङ्कित करना कठिन है क्योंकि वह कथा न होकर भी कथा सी लगती है; संस्मरण न होकर भी संस्मरण का भान कराती है और जीवनी न होकर भी जीवन की झलक प्रस्तुत करती है। वास्तव में यह विधा इन सभी का समन्वित रूप है।

कथा के समान रेखा-चित्र का विषय मनुष्य अथवा मनुष्येतर जगत् हो सकता है पर वह सत्य जगत ही हो सकता है, कथा के समान सर्वथा कल्पित नहीं। जहाँ कथा अपने 'पात्र' के अन्तर की प्रवृत्ति को स्पष्ट कर सफल होती है, वहाँ रेखा-चित्र के लिए उसका बाह्याङ्कन पर्याप्त होता है। यदि भीतर की झलक भी आ जाये तो वह सोने में सुगन्ध समझी जाती है।

मनुष्य के रेखाङ्कन में उसके कृत्य और विचार पर्याप्त नहीं होते, उसके शरीर की गठन तथा भाषा की लचक भी आवश्यक है। उसी से उसकी रेखाएँ उभरती हैं, बोलती हैं। पात्र के रहन-सहन की रीति, उसके काल और वर्ग की साक्षी देती है। जब वह बोलने लगता है, तब उसके बोलों से उसका सांस्कृतिक स्तर झलमला उठता है। हम

उसकी ऊपरी चाल-ढाल के साथ उसकी भाषा पर विशेष ध्यान देते हैं, उदाहरणार्थ जब पात्र बोलता है, "हम ई कुल बतियाँ कबहुँ नहीं जनलीं" तो हमारी आँखों के आगे बनारसी, व्यक्ति खड़ा हो जाता है और हम तुरंत पूर्वीय प्रदेश के वातावरण में पहुँच जाते हैं। जब हम उसके मुँह से सुनते हैं, "जे सब बातें हमने कभऊँ नहिं जानी" तो हम एकदम बुन्देलखंड के अंचल में आ जाते हैं। अतएव मनुष्य के रेखा-चित्रण में भाषा को यथा संभव अकृत्रिम रखना आवश्यक है। कहानी में सर्वदा आदर्श कल्पना-लोक सृष्ट हो सकता है अतः पात्र की भाषा उसके सामाजिक संस्कार की द्योतक न होकर भी 'आदर्श' हो सकती है।

जिस प्रकार विभिन्न रंगों के अनुपात से तूलिका-चित्र सजीव हो जाता है उसी प्रकार मानव की आकृति, उसके अंग-विक्षेप तथा उसके स्वभाव-वैशिष्टय से शब्दों का रेखा-चित्र रंगीन हो उठता है। मानव आकृति की किन रेखाओं और मन के किस विकार में उसका व्यक्तित्व अन्तर्हित है उन्हें खोजकर खींचना रेखा-चित्र की सफलता है।

मानव-स्वभाव को नियमित मानना भूल है। वह सीधी रेखा में प्राय: नहीं चलता। वह चंचल, अनियमित और अनिश्चित है। जिस व्यक्ति को हम अत्यंत गर्हित, चरित्रहीन समझते है, वह न जाने किस क्षण, किस सामान्य घटना से अनुप्राणित हो, असामान्य, चरित्रशील हो जाता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। चरित्र-प्रधान कहानी, पात्र के स्वभाव के परिवर्तित रूप को इस प्रकार क्रमबद्ध, कारण-सम्मत प्रस्तुत करती है कि वह यथार्थ लगने लगता है। रेखा-चित्र में पात्र के चरित्र के चढ़ाव-उतार दोनों को पृथक-पृथक दिखलाकर भी उसकी स्वाभाविकता रक्षित की जा सकती है। उसमें कहानी की तरह दोनों के समन्वय को समझाने की आवश्यकता नहीं। 'पात्र' का स्वभाव आज शोभन दिखाई देने लगा। कल अशोभन दिखाई देने लगा। रेखा-चित्र में उसके दोनों रूप बिना सूत्र-बद्धता के भी खड़े किए जा सकते हैं। कहानी में उन्हें जोड़ना पड़ेगा और एक सूत्रता लानी होगी।

समाज में सामान्य (Type) और विशिष्ट व्यक्ति (Individual) पाये जाते है। रेखा-चित्र में दोनों प्रकार के व्यक्ति उतारे जाते हैं। यह सच है कि विशिष्ट व्यक्ति को शब्दों का रूप देना सहज साध्य नहीं है, इसीलिये रेखा-चित्रण प्रौढ़ अनुभव की अपेक्षा रखता है।

रेखा-चित्र सत्य जीवन पर आश्रित रहता है, अतएव उसमें संस्मरण का पुट भी मिला रहता है। कोई घटना, कोई दृश्य, कोई व्यक्ति हमारी स्मृति को झकझोरने लगता है, चित्र खिचने लगता है, और शब्दों का परिधान धारण करने लगता है! परन्तु सभी रेखा-चित्र संस्मरणों के ही अंग नहीं होते।

किसी व्यक्ति या वस्तु को हम प्रथम बार ही देखकर उससे प्रभावित हो जाते हैं और उसे शब्दों में बाँधने लगते हैं।

रेखा-चित्र में सत्य-जीवन की झाँकी होती है, इसलिए वह जीवन-चरित्र के बहुत निकट पहुँच जाता है, पर जीवन-चरित्र के समान उसमें घटनायें जन्म-तिथि-क्रम से संकलित नहीं होतीं और न उनका पूर्ण आकलन ही होता है। उसके लिए एक ही घटना पर्याप्त है क्योंकि वह जीवन के वैशिष्टय की रेखा मात्र है। श्री राम नारायण उपाध्याय के 'चाचा' रेखा-चित्र में अब्दुल्ला किसान के जीवन की एक घटना का अंश है। उससे गांव के लोग पाकिस्तान जाने की बात पूछते हैं। वह कहता है, "भाई, मेरे वालिद यहीं गुज़रे हैं और मेरे बच्चों की परवरिश भी यहीं हुई है। मेरा जर्रा-जर्रा यहीं की जमीन का अहसान-मन्द है। ऐसे जाने पहचाने गांव को छोड़कर भला मैं उस बेजाने मुल्क में क्यों जाऊँगा? जहाँ मैं न किसी को जानता हूँ और न मुझे कोई पहचानता है? ऐसे पाकिस्तान से तो कब्रिस्तान जाना अच्छा जहाँ किसी का कोई नहीं होता और सच्ची शांति मिलती है।" पात्र के इन कतिपय शब्दों में ही उसके चरित्र की रेखायें उभर आई हैं।

इसी प्रकार श्री गाडगील के 'एक हज़ार वर्ष बाद' में 'झानू भरा

नहीं 'बच्चा बन गया है' के अन्तर्गत ज्ञानू के पिता का यही एक वाक्य और ज्ञानू के पुत्र को लेखक के चरणों में रख देने मात्र से वृद्ध के अन्तस्तल का चित्र उतर आया है। श्री बनारसी दास चतुर्वेदी की 'जयिनी मार्क्स' को यद्यपि रेखा-चित्र कहा गया है पर वह वास्तव में ऐतिहासिक घटना-तिथियों के साथ जीवन-चरित्र ही अधिक है। श्रीमती सत्यवती मल्लिक का 'सरोज नलिनी दत्त' भी रेखा-चित्र न होकर जीवन-चरित्र है। श्री विष्णु प्रभाकर का 'टीपू सुलतान' व्यक्ति और स्वभाव का अच्छा चित्र है। श्री ओंकार शरद की 'लंका महाराजिन' में उत्तर प्रदेशीय ग्राम्य जीवन की झलक के साथ व्यक्ति के वैशिष्ट्य का विशद उद्‌घाटन है। श्रीयुत श्रीराम जी शर्मा की 'बोलती प्रतिमा' के जगन्नाथ, हरनाम दास जीवन के हृदय-स्पर्शी चित्र हैं। श्री कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर के 'भूले हुये चेहरे' में रेखा-चित्र के कई अच्छे उदाहरण हैं। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा के 'पद्म पराग', से हिन्दी संसार में रेखा-चित्रों की परम्परा प्रारम्भ होती है। श्री बनारसी दास चतुर्वेदी के रेखा-चित्रों में संस्मरणों का अधिक समावेश पाया जाता है, फिर भी वे इस कला के आचार्य हैं।

रेखा-चित्र में पात्र के जीवन की कई घटनायें प्रतिबिम्बित हो सकती हैं परन्तु उनका उद्देश्य चित्र में रंग भरना मात्र होता है, जीवन को पूर्ण रूप देना नहीं। श्री अमृतराय का 'प्रेमचन्द-घर में' शीर्षक रेखा चित्र प्रेम चन्द के जीवन की सामान्य घटनाओं के उल्लेखों से उनकी ढब और प्रवृत्तियों को बड़े अच्छे ढंग से उभार रहा है। श्रीमती महादेवी के 'चीनी यात्री' में चीनी फेरी वाले से सम्बन्धित घटनायें रेखाओं को सजीव बनाने में सहायक हुई हैं। श्री बेनीपुरी के 'बलदेव सिंह' और 'बैजू मामा' भी इसी कोटि के आकर्षक चित्र हैं।

कभी-कभी रेखा-चित्र निबन्ध की श्रेणी में भी रख दिया जाता है परन्तु वह उसी कोटि की निबन्ध-पंक्ति में बैठ सकता है जो आत्मपरक हों, संस्मरणात्मक हो। अंग्रेजी में व्यक्ति, घटना या दृश्य का उड़ता हुआ विहगावलोकन होता है। उसे 'ऐसे' (निबन्ध) के नाम से अभिहित

किया जाता है। इसी प्रकार के निबन्धों में रेखा-चित्र की भ्रांति हो सकती है। 'क्या गोरी, क्या सांवरी' में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने ऐसे कई आत्म-परक निबन्ध लिखे हैं जो रेखाचित्र के अत्यधिक सन्निकट हैं। उन्हीं के शब्दों में, 'उनमें कहीं रामू भाई और उनकी कन्या गुल बदन के चित्र उभरते हैं, कहीं स्वर्गीय श्री झवेरचन्द मेघाणी के प्रति स्नेह-धारा बहती है।' 'यशपाल' और 'बलवंतसिंह,' ये दो निबन्ध दो साहित्यकारों के गिर्द घूमते हैं। लेखक ने अपने गांव के 'नुरे' का सजीव चित्रांकन किया है। श्री गुलाबराय के सद्यः प्रकाशित 'मेरे निबन्ध' में 'मेरे नापिताचार्य' तो निबन्ध की पोशाक में जीता-जागता रेखा-चित्र ही है। श्री अनंत गोपाल शेवडे के 'तीसरी भूख' के कतिपय निबन्ध भी रेखा-चित्र के शिल्प से अनुप्राणित हैं। श्री सियाराम शरण के 'झूठ-सच' के निबन्ध भी रेखा-चित्र की भ्रांति उत्पन्न करते हैं।

जहाँ रेखा-चित्र में चिंतन की गम्भीरता का प्रवेश होने लगता है, वहाँ वह निबन्ध के अधिक निकट हो जाता है और जहाँ निबन्ध में तथ्य का उछलती हुई भाषा में रूप-विधान होने लगता है वहाँ वह रेखा-चित्र के अधिक सन्निकट आ जाता है।

रेखाचित्र का रिपोर्ताज से भी सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। दोनों में घटना, स्थान और व्यक्ति चित्रित किये जा सकते हैं। परन्तु जहाँ रेखा-चित्र कल्पना से रंजित हो सकता है, वहाँ रिपोर्ताज में कल्पना कि बिलकुल प्रधानता नहीं। तथ्य को रूप देने भर के लिये ही उसमें कल्पना का सहारा लिया जा सकता है। एक बात और—रिपोर्टाज का वर्ण्य-विषय (तथ्य) कभी कल्पित नहीं होता।

रिपोर्ताज कल्पना से रंग जाने पर कथा अथवा गद्य-काव्य बन जाता है। गत महायुद्ध में साहित्य की इस विधा का जन्म हुआ। विभिन्न युद्धक्षेत्रों से पत्रकार, जिनमें साहित्यक प्रतिभा थी, घटनाओं का यथा तथ्य वर्णन सजीली भाषा में करते और अपने पत्रों को भेजते थे। इन

घटना-रिपोर्टों से पाठकों का विशेष मनोरंजन होता था। जो साहित्य केवल समाचार-पत्रों तक सीमित था, वह अब स्वतंत्र शिल्प के रूप में प्रत्येक समृद्ध साहित्य में प्रचलित हो गया है। श्री शिवदान सिंह, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि के हिन्दी रिपोर्ताज अधिक प्रचलित है।

रिपोर्ताज में घटनाओं के वर्णन के साथ घटनाओं से सम्बद्ध व्यक्तियों का रेखाङ्कन हो जाता है। इस तरह रिपोर्टाज में रेखा चित्र का मिश्रण संभव है।

शुद्ध रेखाचित्र और रिपोर्टाज में लेखक निरपेक्ष भाव से अपनी वस्तु को रूप प्रदान करने में सजग रहता है पर वह ललित वाङ्मय की किसी भी विधा में निरपेक्ष नहीं रह पाता, इसीलिए जो काव्य के अन्तर्वृत्ति निरूपक (Subjective) और बहिर्वृत्ति निरूपक (objective) नामक जो भेद करते हैं, वह बहुत उचित नहीं है। कवि अपनी सृष्टि से सर्वथा पृथक रह ही नहीं सकता। ऊपर कहा जा चुका है कि रेखा-चित्र का विषय मनुष्य के अतिरिक्त मनुष्येतर जगत भी होता है, उदाहरणार्थ श्री रामनारायण उपाध्याय की 'पगडंडी,' श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त का 'लेटर बॉक्स'। ऐसे रेखा-*चित्रों में ' वस्तु ' का वाह्यात्मक वर्णन ही शुद्ध रेखाचित्र के अन्तर्गत आ* सकता है। जहाँ उसकी ओट में कल्पना की उड़ान प्रारम्भ हो जाती है, वहाँ वह या तो संस्मरण, गद्यकाव्य या निबन्ध का रूप धारण कर लेता है। उदाहरणार्थ राजकुमार रघुवीर सिंह का 'ताज महल' रेखा-चित्र न रह कर गद्य-काव्यात्मक निबंध हो गया। यदि ताजमहल की स्थिति का भौगोलिक चित्रण मात्र होता तो वह रेखा-चित्र कहलाता। यमुना की तरंगों से विचुम्बित ताजमहल में बाह्याङ्कन के लिये बड़ी गुंजाइश है। 'अवन्तिका' (जून, १९५५) में श्री कामता प्रसाद सिंह 'काम' की "मेरी जेब" अच्छा रेखाचित्र है। पर अधिकांश रेखा-चित्र मनुष्य को बिन्दु बनाकर ही खींचे गये हैं। मनुष्य की सीमा को लांघने पर वे प्रायः गद्यकाव्य बन गये हैं। बहुधा रेखा-चित्र गद्य-काव्य न होने पर भी गद्य-काव्य की छटा दिखाने लगता है क्योंकि चित्र को उभारने के लिये कल्पना का

सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ "संयोग" में श्रीमती सत्यवती मल्लिक विशिष्ट अतिथि के वर्णन में लिखती हैं —

"समुद्र सी गंभीर; मान सरोवर सी निर्मल, हिमालय की उत्तुंग धवल शिखर सी उज्ज्वल यह भव्य मूर्ति।"

गद्य-काव्य की छटा से चित्र रंगीन हो गया है। इसी प्रकार उनकी "नूरी" में "गिरि-श्रृंगों पर बादल घने हो आये थे। यद्यपि उनमें एक ओर से रजत आलोक फूट रहा था। नूरा का जल सहस्रगुना शोभित एवं तरंगित हो उठा, फूल-पत्तों पर श्यामता अधिक सौन्दर्य छिटकाने लगी। सम्पूर्ण घाटी मानो नृत्यमयी हो उठी हो। किन्तु बार बार नूरी के 'कन्नि मंज, कन्नि मंज' इन दो शब्दों में इस विराट विश्व की छिपी वेदना मेरे अन्तर में सिसक रही थी।" श्रीमती महादेवी के अनेक रेखा-चित्रों को भी काव्य की मनोरम पृष्ठ भूमि प्राप्त हुई है।

रेखा-चित्राङ्कन की उतनी ही शैलियाँ हो सकती हैं, जितनी कहानी की।

इतने विवेचन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि रेखा-चित्र में व्यक्ति, घटना या दृश्य का अंकन होता है। व्यक्ति को रेखाङ्कित करने के लिए (१) कैमरा या तूलिका-चित्र के समान शरीरावयवों का विशद विवरण और (२) उसके स्वभाव की विशेषता को स्पष्ट करने वाले उसके कृत्य अथवा कृत्यों का आकलन तथा (३) चित्र को सजीव बनाने के लिये देशकालानुरूप भाषा का प्रयोग आवश्यक है। वस्तु-तथ्यों को मूर्त बनाने के लिये कल्पना का रंग भरा जा सकता है, भाषा को अलंकृत किया जा सकता है।

❖ ❖ ❖

"रेखा और रंग" के चित्रों को किस कोटि में रखा जा सकता है, इसका निर्णय पाठकों पर ही छोड़ रहा हूँ। अपनी ओर से इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इसके बहुत से चित्र यथार्थ-जीवन की छाया हैं।

उन्हें स्पष्ट करने के लिये ही यत्र-तत्र कल्पना का रंग अवश्य भरा गया है, जिससे कुछ चित्र 'कथा' से जान पड़ते हैं और हैं भी। इसके पाँच चित्र वर्षों पूर्व 'विशाल भारत,' 'कल्पना' आदि में प्रकाशित हो चुके हैं, शेष सभी अप्रकाशित हैं। यदि श्री जगदीश चन्द्र जी का प्रेमपूर्ण प्रबल आग्रह न होता तो कदाचित् ही ये कभी बाहर निकल पाते। वे मेरे इतने सन्निकट हैं कि उन्हें इसके कलापूर्ण प्रकाशन के लिये धन्यवाद देते हुये भी झिझक होती है। पर...............

धरमपेठ एक्सटेंशन
नागपुर – १.
१५–१०–५५.

विनय मोहन शर्मा

डबली बाबू

वन-महोत्सव का दिन था। नन्ही-नन्ही फुहारें रिमझिमा रही थीं। आज का दिन कजरारे बादलों के साथ कितना मातल, कितना मोहक लग रहा था ! मेरी आँखें कभी आकाश में उड़ने वाले कज्जल-कूटों पर जमतीं, कभी उन पर चढ़ने वाले विशालकाय हाथियों पर और कभी सहसा इन्द्र-धनुषी पुल पर। इसी समय रश्मिकांत दौड़ता हुआ आया, "आज डबली बाबू ने हमें ट्रस्ट के बगीचे में बुलाया है। वे हमें गुलाब, कनेर, चमेली-वमेली के बहुत से फूल देने वाले हैं। उनका लड़का आया है। जाऊं ?" आकाश से आँखें धरती पर आ गईं और मैंने कहा, "जाओ, ज़रूर जाओ।" मैं सोचने लगा, ट्रस्ट के बगीचे के बाबू का नाम डबली ? अजीब है ! मैं उसे देखना चाहूँगा। दूसरे ही क्षण मैंने 'रश्मि' से कहा, "और देखो, लौटते वक़्त डबली बाबू से कहना कि आपको पिता जी ने बुलाया है। भूलना मत।"

कुछ समय बाद देखता हूँ, कनेर, गुलाब, रात-रानी, चमेली, चम्पा और न जाने कौन-कौन से अनामा पौधे लिये

स्वयं डबली बाबू बच्चों के आगे-आगे सारस सी डगें धरते हुये बढ़े चले आ रहे हैं। मैंने देखा, उनका कद न ऊँचा, न ठिंगना, मजे के मझौल आदमी हैं। न मोटे हैं न पतले। आँखें भी मझौली हैं, कपोलों में धँसी हुई पीली-पीली सी। दांत विरल हैं। उनका कत्थई रंग पान और तम्बाकू के अतिरेक की शहादत दे रहा है। धोती बाबुआना ढंग की पहने हुये हैं, पर मैल खाने से बादामी रंग की हो गई है। पैरों में कोंकणी चप्पल हैं, जो काफ़ी मोटी और मज़बूत हैं। और हाँ, काले धारीदार कुरते के ऊपर बटन-विहीन खाकी रंग का कोट भी पहने हुये हैं। दाहिने हाथ में एक छड़ी झुलाते हुये वे चले आ रहे हैं। डबली बाबू के कम्पाउन्ड में आने के पहले ही 'रश्मि' दौड़ता हुआ आया और कहने लगा, "यह देखो, डबली बाबू आ गये।"

"नमस्कार डबली बाबू! आपने बड़ा कष्ट किया। किसी माली को भेज देते।" मैंने कहा।

"नहीं, एक तो आपने बुलाया और दूसरे मैं भी बहुत दिनों से आपसे मिलने वाला था, आपके कॉलेज के प्रोफेसर... ...जी से मेरा बड़ा घरोबा था। मेरे बग़ीचे में वे अक्सर आया करते, सैर करते, बड़ा मज़ा आता था। मैंने सुना, आप मेरे मकान के पास ही आ गये हैं तो मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। ऐसा लगा जैसे......जी ही आ गये।" डबली बाबू बोलते ही गये, "बाई कहाँ हैं?" (उनका आशय मेरी धर्मपत्नी से था।)

डबली बाबू को हमने चाय पिलाई। पान खिलाया।

उनके नेत्र कृतज्ञता से आर्द्र हो उठे। कहने लगे, "बाबूजी, आपका बगीचा मैं अच्छी तरह लगवा दूँगा।" फिर उन्होंने कम्पाउन्ड की बारीकी से 'सर्वे' की। "यहाँ आम, यहाँ जाम, यहाँ लीची, यहाँ संतरा, यहाँ जामुन, यहाँ पपीता...." कहते गये और हाथ की छड़ी से इनके लगाने के स्थानों पर गोलाकार निशान भी बनाते गये....। "अच्छा, तो मैं जाता हूँ। नर्सरी में लोग पौधे लेने आये होंगे। वन-महोत्सव है न।"

❖ ❖ ❖ ❖

चार दिन बाद सबेरे मैंने देखा—"ट्रस्ट" की लारी खड़ी है। फाटक खुलवाने का आग्रह कर रही है।

"क्या है?" मैंने पूछा।

"कुछ कुंडे (गमले) लाये हैं। डबली बाबू ने भेजे हैं।" मैं परेशान था, कितने अच्छे हैं डबली बाबू!

शाम को छड़ी हिलाते हुए डबली बाबू आ ही तो गये।

"इन गमलों का क्या दाम हुआ?" मैंने पूछा। "कुछ भी दे देना, सस्ते ही लगा देंगे। ट्रस्ट वाले स्टॉक खतम करना चाहते हैं।" वे बोले और उन्होंने फिर एक बार बगीचे का 'सर्वे' किया—"यहाँ पपीता अच्छा रहेगा, संतरा और आम इतने नज़दीक ठीक नहीं रहेंगे, रातरानी उस कोने पर ठीक खिलेगी".....डबली बाबू छड़ी हिला-हिलाकर कहते जा रहे थे। इसी समय उनके सामने चाय की प्याली आ गई। चाय पीकर उन्होंने कहा, "आप रोज़-रोज़ तकलीफ क्यों करते हैं?" और फिर पान उठाते हुए बोले, "मैं आपका बगीचा बहुत अच्छा लगवा दूँगा। जाता हूँ। नमस्ते।"

दूसरे दिन प्रातःकाल ट्रस्ट का माली बहुत से फूलों के पौधे लेकर आया और बरसते पानी में उन्हें लगा कर चला गया ---डबली बाबू के निर्दिष्ट स्थानों पर।

❖ ❖ ❖ ❖
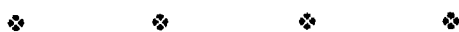
दस दिन बाद डबली बाबू सबेरे ही आये। चेहरे से बहुत अधिक थकान झलक रही थी। बग़ीचे के पास बेंच पर बैठते ही घबराये-से दिखाई दिये। उनके रोकने पर भी वमन हो गया। हम सब उनके निकट दौड़ गये। सिर पर पानी डाला। मुँह धोने के बाद उन्होंने कहा --"पित्त का जोर है, और कुछ नहीं, थोड़ा बुख़ार भी है और कुछ नहीं।" थर्मामीटर लगाकर देखा तो पारा १०२ डिग्री के ऊपर जा रहा था। पर उनसे कहा, "थोड़ी हरारत ज़रूर है। अब आप घर चले जाइये।"

डबली बाबू रिक्शे में चले गये।

❖ ❖ ❖ ❖

दो दिन बाद एक बंगाली सज्जन के साथ फिर आये। जन्माष्टमी का दूसरा दिन था। बच्चों ने उत्साह के साथ भगवान कृष्ण की झाँकी बनाई थी। यह बात डबली बाबू को अपने लड़के से ज्ञात हो गई थी। आते ही बोले, "पहले झाँकी देखूँगा। फिर बातें करूँगा।" बड़ी तन्मयता के साथ वे अपने दोनों नेत्र बंद कर हाथ जोड़े खड़े रहे। जब काफ़ी समय हो गया तो मैंने कहा, "डबली बाबू! चलिये चाय पी लीजिये।" उन्होंने आँखें खोलकर अन्यमनस्क होकर कहा, "तो चलिये।" बंगाली बाबू देखते ही देखते लड्डू और चाय का प्याला नीचे उतार

गये पर आज डबली बाबू का प्रिय पेय उनके होठों से नीचे नहीं जा रहा था। लड्डू की ओर उन्होंने देखा भी नहीं। जब बहुत आग्रह किया तो कहने लगे, "मुझे आज आठ-दस दिन से कुछ भी अच्छा नहीं लगता। रात को रोज बुखार आता है। ट्रस्ट का हिसाब साफ़ करना है। इसलिये बाबूजी को (बंगाली महाशय को लक्ष्य कर) साथ ले आया हूँ। आप इन्हें रुपये दे दीजिये।" (बंगाली बाबू नर्सरी के चार्ज में हैं, उन्हीं के मातहत डबली बाबू काम करते थे।) हिसाब समझाकर डबली बाबू उठे और उन्होंने बग़ीचे की ओर एक दृष्टि डाली मानों मन ही मन उसका 'सर्वे' कर रहे हों—"आम जरा संतरे से हटकर होता तो ठीक रहता, ख़ैर कोई बात नहीं (आज उन्होंने छड़ी घुमाकर 'सर्वे' नहीं किया) मैं एक अच्छा माली आपके पास भेजूँगा।" यह कहते हुए बंगाली महाशय के साथ गेट के बाहर जाते-जाते डबली बाबू फिर लौट पड़े और पुनः कहने लगे, "एक बात तो मैं भूल गया, बाई कहाँ हैं?" पत्नी के आने पर वे बोले, "मेरी एक प्रार्थना है बाई आप से। एक दिन आप और प्रोफेसर साहब दोनों मिलकर * एक बार मेरे यहाँ जरूर आओ। भूलना मत।"

हमने आने का आश्वासन दिया और डबली बाबू रिक्शे में बैठकर चले गये। हमारे मकान से दो फर्लांग की दूरी पर एक सेठ के बग़ीचे में बड़े भारी बँगले के पीछे ऊँघती-सी झोपड़ी में डबली बाबू वर्षों से रहते थे।

* मराठी "मिळून" (साथ साथ)

दूसरे दिन शनियार को प्रातः साइकल पर मैं ज़रा तेज़ी से जा रहा था। मार्ग में डबली बाबू ट्रस्ट-नर्सरी रोड पर हिलते-डुलते जाते दिखाई दिये। मैंने साइकिल पर चढ़े हुए ही पूछा, "कहिये, कैसी तबियत है ?"

"रात को नींद नहीं आती। बस, और ठीक है।"
"तो आराम क्यों नहीं करते ? ट्रस्ट के दफ्तर में क्यों भागे जा रहे हैं ?"

"काम बहुत पड़ा है। हिसाब साफ़ करना है न ?"

❖ ❖ ❖ ❖

सोमवार का सबेरा था। पानी तेज़ी से बरस रहा था। सिर पर कमली डाले एक आदमी फाटक पर खड़ा आवाज़ दे रहा था।

"क्या है, क्या चाहते हो ?" मैंने उससे पूछा।

"मैं माली हूँ। डबली बाबू ने भेजा है ?"

"और डबली बाबू कहाँ हैं ?"

"वो तो कल मर गये। तुमको नहीं मालूम ?" मेरा सिर चकरा गया। मैंने कहा, "अरे कल तो सबेरे मेरी उनसे सड़क पर मुलाकात हुई थी। दफ्तर गये थे।"

"हाँ, दफ्तर तो गये थे, सब कागज-पत्तर ठीक करने। बारह बजे एकाएक उन्होंने चाबी फेंक दी और कहा, 'हमारा काम पूरा हो गया। हम घर जायेंगे।' और ज्योंही उठकर चलने लगे, उनके पैर लड़खड़ा उठे। उसी समय उन्ने मुझसे कहा—'देखो संपत! प्रोफेसर साब के घर जाकर बगीचे का काम ठीक कर देना, भूलना मत।' फिर हम लोग उनको

रिक्शे में बिठा कर डाक्तर के पास ले गये। डाक्तर ने नाड़ी देखते ही घर ले जाने को कहा। वहाँ थोड़ी देर में उनकी दम छूट गई।"

मंगल की शाम को मैं पत्नी के साथ डबली बाबू के घर गया। उनके पुत्र ने 'खोली' के सामने खटिया डाल दी और भीतर चला गया। डबली बाबू की एक कन्या चाय लेकर आ गई। मैं अचरज में डूब गया और मन ही मन कहने लगा कि, "ये सब कितने भोले हैं! मातम-पुरसी के लिये आनेवालों को इस तरह खिलाया-पिलाया नहीं जाता, इसका भी इन्हें बोध नहीं। मैंनें श्रीमती डबली से कहा—"यह चाय पीने-पिलाने का वक्त नहीं है। आपको तकलीफ़ नहीं करनी चाहिये थी।"

"लेकिन उन्होंने कहा था कि जब प्रोफेसर साहब और बाई आयें और मैं घर में न भी रहूँ तब भी उन्हें चाय पिलाये बिना मत जाने देना।" यह कह कर डबली बाबू की विधवा फूट फूट कर रोने लगी। हम प्रयत्न करने पर भी अपने को नहीं रोक सके। सांत्वना देने गये थे पर खुद अपनी सांत्वना खो आये।

"नजर नसाय गई मालिक!"

वह आया। खुला और चढ़ा सबेरा था। पाँच दिन लगातार पानी बरसने के बाद उस रोज़ आकाश से तेज़ धूप छिटक रही थी— हौले हौले, मिठास-सी लिये हुए। जी में उल्लास झूल-सा रहा था। मैं सामने के कमरे में बैठा सोच रहा था, कालिदास ने बरसाती दिनों को 'दुर्दिन' की संज्ञा ठीक ही दी है। बादलों का रोज़-रोज़ घुमड़ना, गरजना-तरजना और झरते रहना उन्हें भी नहीं सुहाया होगा। अपनी अनुभूति को महाकवि की अनुभूति से मिलते देखकर हृदय गर्व से भर गया। उसी समय सामने की सड़क से एक अलमस्त तरुण गाते हुए निकला, "घिर आई बदरिया सावन की-मनभावन की। घिर...।" उसके गाने में 'खटका' था और स्वर में 'काट'। ऐसा लगा, मानों ये महाशय मेरी मनोवृत्ति की निर्दय आलोचना कर रहे हों। मैं मन ही मन हँस पड़ा, "क्या खूब।"

"बाबू नौकरी मिली?" आवाज़ ने मुझे ज़रा चौंका दिया। सामने देखा एक अधेड़ उम्र का, दुबला और लम्बा-सा

आदमी अपने दोनों हाथों को जोड़े खड़ा था। शरीर पर एक मैला कुर्ता था, जो कंधों और बगलों पर फटकर अगले जीर्ण होने की शहादत दे रहा था। वह घुटनों तक पहुँचने वाली बरसाती पानी के रंग की धोती पहिने था। सर पर सिर्फ बाल थे और पैरों में बिमाई की दरारें। भाल चंदन से पुता हुआ था। आँखों में आशा-निराशा आँख-मिचौनी-सी खेल रही थीं। उसने दुहराया—"मेरे बाबू! मालिक, नौकरी मिली न? हम बाम्हन हैं।"

"कौन-सी नौकरी तुम कर सकते हो? खाना बना सकते हो?" मैंने पूछा।

"काहे नहीं, बाबू! हम सब काम करि सकित हैं। मौका परै पै जूतौ साफ करि सकित हैं, बच्चन का मैला तक। मालिक, मा-बाप दाखिल हौ।"

मुझे ऐसे ही 'पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर' व्यक्ति की आवश्यकता थी। मैंने बिना ज्यादा जिरह या पूछताछ किये, उसे रख लिया।

❖ ❖ ❖ ❖

वह रहा। दोनों प्रहर रोटियाँ बनाता, झाड़ू लगाता—सब करता। बच्चों को खिलाने और उनके साथ खेलने में उसे विशेष सुख मिलता। छोटी बच्ची को वह बहुत चाहता था। उसके प्रति उसकी ममता पक्षपात की सीमा तक पहुँची हुई मालूम होती थी। उसकी एक बात भी वह खाली न जाने देता। अगर उसका वश चलता तो वह आकाश की तरैया भी उसके लिये तोड़कर ला दे सकता था। कहता, 'चार साल

छोड़े हो गया। हमरी रमैया इती बड़ी होई।" मैं उसकी सहृदयता पर बेहद खुश था।

"तो तू कब जायगा, शंकर, अपनी रमैया के पास ? कभी चिट्ठी वगैरह डालता है घर को ? रमैया की माँ भी है न ?" मैंने एक दिन पूछा।

"सब हैं मालिक ! दो ठौ आम के बिरवा हैं। थोड़ी जमींदारी है। भाई है, भौजाई है। मुदा भौजाई से हमरी बनती नाहीं है। रमैया की माँ मैके में है। वहीं का मनिआडर भेजत रहित हन।"

वह फुरसत के वक्त हमारे बीच बैठ जाता और अपनी रामकहानी कहता रहता और अंत में वह ज़रूर कहता—"अब हम मालिक, कतौ नौकरी न करब, तुम्हार दुवार न छोड़ब।"

❖ ❖ ❖ ❖

वह गया। मुँदा और उतरा हुआ दिन था। धरती माता पानी से नहा रही थीं—ज़ोरों की बौछार में। मैंने देखा, शंकर सिर तक धोती लपेटे और बगल में अपनी 'पोटरी' दाबे मेरी टेबिल के पास आ रहा है। आते ही वह पैरों पर गिर पड़ा और सिसक-सिसक कर रोने लगा।

"क्या हुआ रे शंकर तुझे ?" मैंने पूछा। उसका रोना और बढ़ गया, "माफी देव हुजूर, अब हम देस जाईत हन।"

मैं हैरान था, 'क्यों बोल न, क्या हुआ तुझे ?"

उसने मेरे हाथ में एक रुपए का नोट रखकर थर्राई हुई आवाज़ में कहा—"मालिक, हमार नजर नसाय गई। अब हम आपके घर माँ रहन लायक नाहीं रहे। माफ़ी मिलै सरकार!"

उसकी आँखों से आँसू जारी थे। मैंने उसे बहुतेरा समझाया कि उसकी एक रुपए की चोरी की चर्चा किसी से न की जायगी। पश्चात्ताप कर लेने पर मनुष्य के पाप धुल जाते हैं पर वह न माना।

"हमारे मुँह पर तो कालिख पुत गई हुजूर! हम यह मुँह आप सबका कैसन दिखाब? का कही, नजर तो नसाय गई मालिक!" कहता हुआ वह अहाते के बाहर हो गया—बरसते पानी में भींगते हुए।

❖ ❖ ❖ ❖

शंकर समाज की नज़रों में गिरा हुआ प्राणी है, अपढ़, असंस्कृत। परन्तु उसकी आत्मा कितनी ऊँची है, संस्कृत, सभ्य! महीने भर से वह मेरी आँखों में झूल रहा है और कानों में गूँज रहे हैं उसके ये शब्द—"नज़र तो नसाय गई मालिक!"

वकील साहब

उनका नाम गदाधर सिंह था पर उच्चारण करने में जिह्वा को कष्ट होने से लोग प्रायः "गद्दू वकील" या "गद्दू वकील साब" कहते थे — कोई-कोई गद्दू का भी ठीक उच्चारण न कर सकने के कारण "गद्धू" भी कह जाते थे। परन्तु ये सब मुख-सुख-उच्चारण उनके पीठ-पीछे ही होते थे। सामने पड़ने पर वे 'सिंह साहब', 'सिंह वकील साब' से ही संबोधित होते थे। 'वकील साहब' खंडवे के जिस मुहल्ले में रहते थे वह भी कई नामों से पुकारा जाता था। किसी ज़माने में खंडवे में फोरसेथ नाम-धारी एक अंग्रेज़ डिप्टी कमिश्नर थे। राजभक्तों ने उनके नाम पर उस मुहल्ले का नामकरण फोरसेथ गंज कर दिया था। रेलवे-स्टेशन के पुल के पास से जो सीधा राजमार्ग जाता है उसको फोरसेथ गंज रोड़ कहा जाने लगा था। वह परदेसी पुरा भी कहलाता है क्योंकि उसमें उत्तर भारत के रायबरेली, बेला परतापगढ़, नखलऊ (एक बार इसी मुहल्ले के एक नाई ने बताया था कि "मैं नखलऊ का रहने वाला हूँ।" बाद में मैंने

जाना कि यह लखनऊ को नखलऊ कहता है) के ब्राह्मण, ठाकुर, नाऊ-बारी आदि बहुत अधिक संख्या में रहते हैं और सरकारी-गैर-सरकारी छोटी-मोटी नौकरी या दूध बेचने का धंधा करते हैं। ये अपने को स्वयं 'परदेसी' कहते और कहलाते हैं। स्वराज्य स्थापित हो जाने के पश्चात् पुराने देशभक्तों और नए राजभक्तों ने इसका नाम 'जवाहर गंज' रख दिया। उसके 'राजमार्ग' पर वकीलों की संख्या अधिक होने से लोग 'वकील-अवार' भी कह देते हैं। यद्यपि आधुनिक नाम 'जवाहर गंज' है तो भी जनता उसे चारों नामों से पुकारती है। कचहरी के कम्पाउंड में एक बड़ा नीम का पेड़ है। उसके नीचे बहुत से सवालनवीस बैठे रहते हैं---शहर और ग्रामों के मुकदमेबाज़ और उनके साथ आने वाले निठल्ले भी बैठे रहते हैं। इनमें कुछ मसखरे भी होते हैं। अतः जब कोई बेकार (Bricfless) वकील आता है तो अपने साथियों से उसका परिचय देते हुए कहते हैं, "ये वकील साहब फ़ुरसत गंज में रहते हैं।" जब कोई सूट-टाई से लेस आते हैं तो कहते हैं, "आप साहब फोरसेथ गंज में तशरीफ रखते हैं।" और जो सिर पर गांधी बाबा के नाम की दूधिया टोपी पहने दृष्टिगोचर होते हैं तो कहा जाता है, "श्रीमान जवाहरगंज में विराजते हैं।"

तो---हमारे वकील साहब ऐसे बहु नामा मुहल्ले के अधिवासी हैं। सौभाग्य से इनमें ऐसे गुण हैं जो मुहल्ले के प्रत्येक नाम को सार्थक भी करते हैं। ये प्रायः फ़ुरसत में रहते हैं, 'देस' (प्रतापगढ़) से आकर बसे हैं, सूट और हैट में रहते हैं, (हालांकि वह होता है शुद्ध खादी का ही) और थोड़ी बहुत देश-

भक्ति भी करते हैं (चुनाव के समय कांग्रेसी उम्मीदवारों के पक्ष में प्रचार-कार्य करते और मिनिस्टरों के आगमन के समय स्वागत-सत्कार में आगे दिखाई देने का प्रयत्न करते हैं।) उनके दफ्तर में एक-दो फोटो ऐसी भी टँगी हुई हैं जिनमें मिनिस्टर के कंधे के पीछे से उनका चेहरा आगे उभरता हुआ दिखाई देता है।

❖ ❖ ❖ ❖

एक दिन मैं इन्दौर से खंडवा आ रहा था। मोरटक्का स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो ये 'वकील साहब' भीड़ को चीरते हुए मेरे डिब्बे में धँस आये और मेरे सामने ही आ खड़े हुए। मैंने 'नमस्ते' कर थोड़ा खिसक कर अपने पास बैठाल लिया-हालाँ कि यह उदारता मुझे बड़ी कष्टकर हुई। उनके भारी-भरकम शरीर से मेरी दुबली-पतली हड्डियों का सम्पर्क असह्य हो गया। अगले स्टेशन पर यदि मेरे निकटवर्ती एक-दो यात्री न उतर जाते तो मुझे स्वयं खड़े होकर अपनी रक्षा करनी पड़ती। मैंने छूटते ही पूछा "क्यों सिंह साहब! इस जनता-क्लास में आप कैसे? क्या रिज़र्वेशन नहीं हो पाया?"

"आप ठीक कहते हैं। पर मैं तो इस क्लास में सफर करना पसन्द करता हूँ। मैं जनता से दूर थोड़े ही हूँ।"

"लेकिन साहब! आप तो अपने 'प्रोफेशन' पर किसी केस में आए होंगे। आपको गाँठ का तो खर्चना नहीं पड़ता सब क्लाइंट (मवक्किल) के माथे लदता है।"

"आप ठीक कहते हैं। पर बाबू रमेशचन्द्र जी! क्लाइंट फीस भी कहाँ ज्यादा देते हैं! इसलिये जो रुपया हम रेल में

किराए के नाम पर वसूल करते हैं उसी में बचत करनी पड़ती है।"

"यह तो आप ठीक कहते हैं।" मैंने कहा। वकील साहब की स्पष्टवादिता से प्रोत्साहित हो मैंने निवेदन किया, "वकील साहब ! मैं आप लोगों के जीवन से परिचित होना चाहता हूँ। मुझमें लिखने की रुचि है। शायद कहीं काम आ जाय।"

"भाई साहब, मेरा अनुभव ही क्या है जो मैं आपको सुनाऊं ?"

"फिर भी आप पाँच-छै वर्षों से कचहरी जाते-आते हैं। कुछ तो देखा-सुना होगा।"

"यदि आप इतने उत्सुक हैं तो मैं आप-बीती ही सुनाता हूँ।"

"मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

"इस पेशे में आने की भी एक कहानी है। यह तो आप जानते ही हैं कि पढ़ते समय हम लोगों में से ऐसे बहुत कम हैं जो अपने भावी-जीवन के लक्ष्य को रेखांकित करते हैं। अतः जब बी. ए. पास हुआ तो सोचा क्या करूँ ? सरकारी नौकरी में नायब तहसीलदारी का दरवाज़ा ज़रूर खुला नज़र आया पर उसमें प्रवेश करना आसान नहीं था। कोई वसीला, कोई पहुँच, हुए बिना काम कैसे बनता ? फिर सोचा, बी. टी. करके मास्टरी करूँ ? दूसरे ही क्षण विचार आया, नहीं नहीं, यह बड़ा 'डल' प्रोफेशन है, इसमें बड़ी दमघुटी है, समाज में क्या इज्ज़त है ? तो

सर खुजलाकर चिन्तन करने लगा-तो वकालत क्यों न करूँ ? मेरी आँखों के सामने एक से एक सुनहले चित्र आने लगे——वकालत करूँगा, बड़े बड़े मुकदमे आयेंगे, खूब पैसे आयेंगे । लम्बी-चौड़ी ज़मीन खरीदूँगा । आलीशान मकान बनवाऊँगा, मोटर, नौकर चाकर। एक-एक मुकदमे में कई कई हज़ार फ़ीस-ओह ! मोतीलाल तो घर बैठे सलाह देने के ही लाखों धरा लेते थे । जब वकालत अच्छी जमेगी तो असेम्बली के लिये खड़ा हो जाऊँगा । मेरे क्लाइंट मेरी सहायता करेंगे । किसी प्रभावशाली राजनीतिक दल में शामिल हो जाऊँगा । असेम्बली में जाकर मिनिस्टर भी बन सकता हूँ । मेरे हाथ में 'वोट' तो रहेंगे ही। पार्टी-लीडर को मेरी शक्ति के आगे झुकना पड़ेगा, मुझे मिनिस्टर बनाना ही होगा । फिर धीरे धीरे एक दो बार के चुनाव के बाद चीफ़ मिनिस्टर भी हो सकूँगा । मनुष्य को महत्वाकांक्षी होना चाहिये । क्या मेरी शक्ति का अनुमान केन्द्र वालों को नहीं होगा ? वहाँ भी मैं पहुँच सकता हूँ और प्रजातन्त्र के युग में यह भी तो संभव है कि मैं देश का प्राइम मिनिस्टर बन जाऊँ ? आज जितने ऊँचे दर्जे के राजनीतिज्ञ हैं वे सब वकील रहे हैं । महात्मा गांधी भी तो वकालत की सीढ़ी से ही ऊपर चढ़े थे । बस, यही निश्चय हुआ कि 'लॉ' पास करूँ । दो वर्ष के कठिन परिश्रम से प्रथम श्रेणी में एल. एल. बी. हो गया । मित्रों ने सलाह दी कि खंडवा में ही जमना चाहिये क्योंकि वह एक प्रगतिशील शहर है । व्यवसाय का भी अच्छा केन्द्र है । आप जानते ही हैं, जवाहर गंज वकीलों का प्रतिष्ठित मुहल्ला है । वहीं बड़े प्रयत्न से एक छोटा सा मकान किराए से ले लिया । अच्छे मोढ़दार

अक्षरों में नाम की तख्ती लिखवाई। सामने के कमरे में कुर्सी टेबिलें और एक-दो बेंचें जमा दीं। टेबिल के 'रेक' पर दस पाँच पुस्तकें सजा लीं। कुछ पुरानी 'आल इन्डिया रिपोर्टर' की फाइलें रख लीं। बस, आफ़िस खुल गया। मित्रों ने एक मुंशी जी को मेरे साथ कर दिया। मुंशी जी घर के खाते-पीते आदमी थे। इससे उन्हें एक नए—जूनियर वकील के साथ काम करने में कोई अड़चन नहीं हुई। वे रोज प्रातः आते और दस बजे लौट जाते। मैं भी बिला नागा ग्यारह बजे कचहरी जाता और पाँच बजे तक 'बार रूम' (वकीलों के कमरे) में बैठता। वहाँ दुनियाँ भर की राजनीति और राजनीतिज्ञों की आलोचना होती, शहर की भली-बुरी घटनाओं की चर्चा होती और कचहरी में चलने वाले मुक़दमों पर भी चक-चक चलती— मैजिस्ट्रेटों पर फब-तियाँ कसी जातीं, कुछ वकीलों के संबंध में भी फुसफुस होती। कुछ साथी ऐसे भी थे जो डरबी की लाटरियों की टिकिट की प्रतीक्षा में, भावी स्वप्नों की रंगीनियों में, अलमस्त रहते और कुछ वहीं 'इलस्ट्रेटेड वीकली' की शब्द-पहेली पर विवाद करते। मैं भी किसी न किसी चर्चा में बहुत समय तक उलझा रहता। कभी किसी अदालत में होने वाले रोचक मुकदमे को सुनने भी चला जाता। जब पाँच बजते और कचहरी की भीड़ छटने लगती तो घर लौट पड़ता। यह क्रम तीन-चार महीने तक चलता रहा।

एक दिन मुंशी जी ने गम्भीर होकर कहा, "वकील साहब! इस तरह तो हम लोगों का काम नहीं चलेगा। आप तो इस शहर में बिल्कुल नये हो। बिना जान-पहिचान के—वसीले के धंदा नहीं चलेगा। आपके साथ में भी कोरा रहता हूँ। कम से कम

कचहरी के आने–जाने और चाय-पानी का तो खर्च मेरा भी निकलना चाहिये। आप मानो तो एक सलाह दूँ ? आपको एक दो 'टाउट' (दलाल) रखने पड़ेंगे। पहिले उन्हें जरा ज्यादा कमीशन देना होगा।" मैंने मुंशीजी की सलाह मान ली। दूसरे रोज मुंशीजी 'टाउट' के साथ आए। टाउट फीस का चालीस प्रतिशत कमीशन ले कर काम करने पर राजी हुआ। टाउट चला गया, मुंशी भी चला गया। मेरे मन में उस दिन हर्ष की अनगिनती हिलोरें उठीं। 'कल मुकदमा आएगा। फ़ीस मिलेगी। कल सचमुच मैं वकील बनकर कचहरी जाऊँगा।' रात को बड़ी देर तक वकालत के मधुर स्वप्न जागते-जागते ही देखता रहा। कब नींद आई, पता नहीं ?

दूसरे दिन पौ फटने के पूर्व उठा, ठीक तरह से बाल बनाये, स्नान किया, देव-स्थान में जाकर श्रद्धा-पूर्वक पूजन किया। रामायण के कुछ पृष्ठ पढ़े। मेरी इतनी पूजा–भावना से घर के सभी व्यक्ति बड़े आश्चर्य में थे। मैंने सोचा था, मैं मुकदमे की बात किसीसे न कहूँगा, शाम को कचहरी से लौटने पर ही अम्मा के हाथों में फीस रखकर उनके चरण स्पर्श करूँगा। पत्नी मेरी सहसा जागृत भक्ति पर रह-रह कर मुसकुरा उठती पर अम्मा के भय से मौन रही। आठ बजे मैं अपने सामने के कमरे में जिसे 'आफिस' कहा जाता था, कुर्सी–टेबिल पर जम गया और 'टाइम्स आफ इन्डिया' के पृष्ठ उलटने लगा। इतने ही में 'टाउट ठाकुर' एक स्त्री के साथ आया और उसके पीछे ही 'मुंशीजी'। ठाकुर ने कहा "यह बाई बुधवारे में 'पेशा' करती है। एक

हम्माल (कुली) ने इस पर फ़ौजदारी में नालिश की है। गबदू हम्माल 'बाई' के यहाँ आता-जाता था। एक दिन जब वह आया तो दूसरा हम्माल बैठा हुआ था।' बस, उसको देखते ही वह आपे से बाहर हो गया, गाली गलौज देने लगा, मार-पीट पर आमदा हो गया। इस बाई ने उस हम्माल की सहायता से उसे घर से बाहर कर दिया। बस, उसने यह आरोप लगा दिया कि मुझे मुमताज बीबी और मारुती हम्माल ने मिलकर पीटा। ताजीरात हिंद की दफा ३२४ में बाई पर मामला चल रहा है। आज पेशी है। मारुती हम्माल ने दूसरा वकील किया है। मैं सुनता रहा, अकबकाया-सा, मन में कहता, "भगवान, तुमने भी क्या मवक्किल भेजा है?—मेरी पूजा मेरा पाठ क्या इसी मवक्किल के लिये था?"

ठाकुर बोलता गया—"आज मुलजिमा की हाज़िरी की पेशी है। और मुमताज बीबी! वकील साहब की टेबल पर फीस रखो; जल्दी करो। कानून देखना पड़ेगा। हालां कि अभी वकालत पास करके आए हैं...सब कुछ ताज़ा पढ़ा-लिखा है। फिर भी तो बड़े वकील से मोर्चा लेना पड़ेगा। हाँ तो फुर्ती करो बाई!"

मुमताज ज़रा सकुचाती सी बोली, "वकील साहब, ये दस रुपये लीजिये। क्या कहूँ?—मेरी हालत ठीक नहीं हैं।" मैंने ठाकुर की तरफ़ घूर कर देखा। ठाकुर ने कहा, "बाई, कचहरी में पुकार के वक्त कुछ और इन्तज़ाम कर देना।" इस बीच में मुंशीजी चट लपके और उन्होंने रुपये उठाकर कागज़ पर लिखा, "देखो बाई! १) वकालतनामा, १) वकालतनामा

लिखाई, २) मुक़दमे की मिसल दिखाई, १) बयान टाइप कराई और २) मुंशी का मेहनताना।" "मेरे पास जो था वह मैं आपकी ख़िदमत में पेश कर चुकी। मुझे मुआफ़ फरमाइये। ज़रा जल्दी इजाज़त दीजिये। मुझे तो आज कुछ नहीं कहना है न वकील साहब, अदालत में ?"

मैंने कहा, "नहीं।" और वह उठकर चली गई। इतने में ठाकुर ने टेबल पर बचे तीन रुपयों को उठाकर कहा, "वकील साहब ! यह मेरा मेहनताना हुआ। नमस्ते——जल्दी कचहरी आइये। वहाँ जरूर आपकी फ़ीस वसूल कराऊँगा। वह देगी ·····उसका बाप देगा।"

मैं कभी मुंशी की ओर और कभी ठाकुर टाउट की ओर देखता। क्या करता ? जब भीतर भोजन करने गया तो प्रातः काल का हर्षोन्माद चेहरे से गायब था। मुरझे हुए फूल की तरह मुख-मुद्रा बनाए मैंने औपचारिकता से भोजन किया और सबकी आँख चुराकर कचहरी की ओर रवाना हो गया। कचहरी के बार रूम में पहुँचा तो यार लोगों ने बधाइयाँ दीं–"Mr. Singh ! Congrgatulations--you have secured a very important case and that too first case--see the Court room—it has no breathing space" (बधाई, मिस्टर सिंह ! आपने इतना महत्वपूर्ण मुक़दमा पा लिया ——वह भी पहिली बार में ही। कचहरी के कमरे की ओर देखिये; साँस लेने की भी जगह नहीं है !) मुझे मित्रों की इस चुहलबाजी से ज़रा भी खुशी नहीं हुई। मामला आनरेरी मेजिस्ट्रेट की

अदाल्त में था। मुंशीजी ने कहा, "पुकार होते ही आपको बुलाने आऊँगा। अभी तो फरीकेन (क्लाइन्ट) आये ही नहीं।"

दस बजे से चार बजे तक भी जब मुंशीजी के दर्शन नहीं हुए तो लाइब्रेरी के बाबू से मैंने पूछा, "आनरेरी मेजिस्ट्रेट कब आते हैं?" उसने कहा, "अभी तक तो आ जाना चाहिये।"

मैं 'बार रूम' से ज्योंही ज़रा आगे बढ़ा तो भीड़ घटती दिखाई दी, मुंशीजी जल्दी-जल्दी आए और कहने लगे, "क्या कहूं वकील साहब! 'कम्प्रोमाइज़' हो गया। फरीकेन (क्लाइंट) चले गये। सबेरे जो दो रुपये मैंने मेहनताने के लिये थे उनमें से एक आप रखें और एक मैं रख लेता हूँ। कचहरी में तो क्या कहूँ, भाँड़ों ने बातें ही नहीं करने दीं। कम्प्रोमाइज़ (समझौता) फाइल (पेश) होने के बाद जाते-जाते बाई ने कहा था, "कचहरी आते वक्त भी पैसे मेरे हाथ में नहीं आ पाये। वकील साहब से माफी माँगना। आदाब अर्ज।"

इतना कहते-कहते वकील साहेब के चेहरे पर ग्लानि मिश्रित मुसकान छा गई। पसीना पोंछते हुए बोले, "यह है मेरा पहला केस।" मैं और भी उनके अनुभव सुनना चाहता था कि गाड़ी खंडवा के प्लेटफार्म पर लग गई और कानों में आवाज़ें आने लगीं —"हम्माल—हम्माल।"*

---

* कुली को खंडवा की ओर हम्माल कहते हैं।

वह वृक्ष !

'खड़ खड़ खड़'––सुन पड़ता है। पानी, पत्थर चट्टानों की छाती को चीरता हुआ बहाव ढूंढ़ रहा है; सतह पर आने के लिए उसे बड़ा श्रम उठाना पड़ता है; इसलिए उसमें 'कल-कल' की मस्ती नहीं है। फिर भी उस प्रवाह से आसक्ति है, उस वर्षीले वृक्ष की। वह किनारे पर खड़ा है। न जाने कितनी बार सूरज आग बरसा चुका है ? न जाने कितनी बार चाँद अमृत चुआ, उसे जिला चुका है ? वह खड़ा है अपने मारने और तारने-वालों को समान भाव से असीसता हुआ, सिर के ऊपर 'भुजाओं' को जोड़े हुये ! जब प्रभंजन खीझता है, तो काँप उठता है; घबराकर चारों तरफ़ से झुकने लगता है। बिजली चमकती है तो समझता है, कोई वरदान मिलनेवाला है; खिल उठता है। तुषार में न जाने कहाँ से आ जाने वाले कम्पन के दर्द को खुद ही पी जाता है, वह किसी की आँखों तक नहीं पहुँच पाता।

आस-पास उसका कोई संगी-सजाती नहीं। यक्ष के शाप

की तो अवधि थी पर इसके अभिशाप की रात का कोई सबेरा ही नहीं दीखता। ··· कोई कहता है, इसका एक साथी था, जो उसी के एक 'कोटर' में रहता था; उसके सम्पर्क का ही उसे सहारा था। वह एक चिड़िया थी। वर्षों यहाँ-वहाँ भटक घूमकर वह एक दिन एकाएक उसकी एक शाख पर बैठ गई। वह क्रमशः हरा होने लगा। चिड़िया भी भीनी महक से बावली हो चहचहाने लगी-कभी इस शाख पर फुदकती, कभी उस पर। वृक्ष में बासंती शोभा छा गई। उसने समझा 'वर्षों बाद मेरे भाग्य की पूर्णमासी खिली है'। वह अपने 'अतिथि' को तुष्ट करने को अधिकाधिक 'रस' शाखाओं में संचारित करने लगा। चिड़िया चूँ-चूँ करती; मानो कहती "मित्र, मैं तुम्हें छोड़कर अब कहीं नहीं जाऊँगी। तुम्हारे अपनाव ने मेरे पंख बाँध दिये हैं।" ये स्वर वृक्ष में दक्षिण मलयज-समीर का स्पर्श भर जाते। उसके पल्लव हिल उठते, जैसे ओठों से बोलता हो, "सच ?"

जब आँधी झकझोर उठती और वर्षा मचलने लगती, वह कोटर पर पत्तियों का सम्पूर्ण आँचल फैला देता, परन्तु एक बार जब कई पक्षियों ने भूले-भटके उसपर रात-बसेरा लिया और आँधी उठी तब वह आपने आँचल को 'कोटर' तक ही सीमित न रख सका। उसने सब आश्रितों के रक्षण की चेष्टा की। दूसरे दिन जब आँधी शांत हुई तो कोटर से सदा सुनाई देने वाली मधुर-ध्वनि भी मौन थी। 'चिड़िया' उसमें चुपचाप बैठी थी। उसे तरु की उदारता कदाचित् अखर उठी थी। रात को ही उसने किसी दूसरे अधिक हरे-भरे सुन्दर तरु का सन्देश सुन लिया था। वह 'कोटर' से धीरे से फुदक कर उड़ गई।

तरु की सारी कोमलता का मानो उसके पास कोई मूल्य ही न रहा हो।

वह (तरु) अब भी आकाश की ओर 'चहचहाहट' सुन-कर आँखें फैला देता है। पर वह पक्षी, जिसने कोटर को एक बार बसा कर सूना कर दिया है, दिखाई नहीं देता! अब उसकी शाखाओं पर हरियाली नहीं रही। पतझड़ के पूर्व ही उसके पत्तों का निपात होने लगा। रोज़ सबेरे उसके आस-पास की धरती भींगी दिखाई देती है। लोग कहते हैं, "मालूम होता है, उस बेवफ़ा पंखी की याद में यह वृक्ष रात-रात भर आँसू बहाया करता है।"

जग्गू काका

कल रात को सपने में जग्गू काका को देखा---वे दाहिने हाथ में गोल मूठाकार डंडा धरती पर टेकते चले आ रहे हैं। सिर पर कागज के पुट्ठे की खूब ऊँची दीवार की गोल टोपी है, जिसके निचले भाग पर दो-दो अंगुल सुनहली लेस टकी हुई है। चलते-चलते कुछ दाहिनी ओर झुक पड़ते हैं और बीच-बीच में रुक-रुककर खाँसते भी जाते हैं। मैं जब उनके सामने पड़ा, तो बोले, "बाबू! तू कल आया नहीं, मिठाई रखी हुई है। नथमल सेठ ने भेजी है, उनकी गाय मिल गयी, तेरी बतलायी जगह पर।"

"आप घर तो पहुँचिए, काका! मैं आया।" इतना ही मैंने कहा कि मेरी आँख खुल गयीं और सामने ३८ साल पहिले की 'जग्गू काका' की तसवीर खड़ी हो गयी। उस समय मेरी आयु दस-ग्यारह वर्ष की रही होगी। जग्गू काका पड़ोस में रहते थे। पुलिस में नौकरी करते थे। उनके कोई संतान नहीं थी। वे थे और उनकी पत्नी थीं। घर में गाय-भैंस पली रहतीं। कमरे में तोते का पिंजरा टँगा रहता, पर जब अम्मा (जग्गू काका की

पत्नी को मुहल्ले के छोटे-बड़े सभी अम्मा कहते और उससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती) उसे अँगुली उठा कर कहतीं, "राम-राम बोलो, बेटा मिट्ठू! सीताराम कहो, राम-राम कहो!" तो वह गंभीर हो कर एक-दो बार "सीताराम-सीताराम" बोल कर, फिर "टें-टें" शुरू कर देता। अम्मा खीझ कर, पिंजड़े पर ही जग्गू काका का डंडा मारने लगतीं। यदि काका वहीं खड़े होते, तो बोल उठते, "अरे ए! देखना, डंडा टूट न जाए, पंछी है, लहर आएगी, तब बोलेगा। काहे को परेशान होती हो?" अम्मा फौरन तमक कर जवाब देतीं, "तुम्हें तो अपने डंडे की पड़ी है, मेरा तो मिट्ठू ही बिगड़ जाएगा।" बात यह है कि जब अम्मा पर गुस्सा सवार होता, तो वे लाख समझाने पर भी न मानतीं। टोकने पर तो और भी आग-बबूला हो जातीं। काका मना करते जाते और अम्मा पिंजड़े को पीटती ही जातीं। तोता पिंजड़े के चारों ओर घूमता-फिरता टिटियाता जाता। अन्त में अम्मा थक कर कहतीं, "अच्छा, मत बोल, बेईमान को आज दूध-भात नहीं दूँगी।" यह दृश्य प्राय: रोज़ ही देखने को मिलता। अम्मा को बिल्ली का भी बड़ा शौक था। यद्यपि बिल्ली पिंजड़े की ओर घूरती रहती, पर तोते को कोई ख़ास घबराहट नहीं होती थी। पूसी जान गयी थी कि तोता उसके हाथ आने वाला नहीं है। इसलिए वह उस पर कोई घात भी नहीं रखती थी। जाड़े के दिनों में पूसी अम्मा की रजाई में दुबक कर सोती। कभी-कभी मैंने पूसी को अम्मा की छाती से लिपटे हुए भी देखा। दिन में जब अम्मा दूध दोह कर आतीं, तो पूसी उनके पैरों से लिपटी हुई 'गुर-गुर' आवाज़ करती जाती और दूध के बरतन की ओर

'म्याऊँ' कह कर देखती जाती। अम्मा कटोरी में दूध डाल कर उसे दे देतीं और वह फौरन 'चप-चप' कर पी जाती। इस तरह प्रायः रोज ही पूसी को धारोष्ण दूध मिलता। अम्मा का कहना था, "हमारी पूसी बिना दिए कभी दूध में मुँह नहीं डालती।" पर लोगों कहना था, "अम्मा की पूसी जरूर आँख चुरा कर दूध में मुँह डालती है (उसके भूरे बालों में हंडी की कालिख बारीकी से दिख जाती थी)। तभी तो फूल कर कुप्पा बनी हुई है।" अम्मा और पूसी के बहुत-से किस्से हैं, जिन्हें फिर कभी सुनाऊँगा। आज तो मैं रात के सपने में काका ने नथमल सेठ की मिठाई की जो बात कही थी, उसी को याद कर रहा हूँ। वह यों है—एक दिन सबेरे काका ने मुझे बुलवाया था और कहा था, "बाबू! आज घंटे दो-घंटे का काम है। दूध-वूध न पिया हो, तो पी ले!" और अम्मा को बुलाकर कहा था, "ए देखना, दूध गरम हो गया हो, तो जरा इसको पिला देना, आज इसके हाथ में 'कजली' लगाना है।" अम्मा बड़े प्रेम से मुझे सिगड़ी के पास ले गयीं और काली चिकनी हँडिया से, जो कंडों पर चढ़ी थी, बड़े चम्मच को डाल कर, फूल के कटोरे में दूध भर लायीं। उसमें थोड़ी शक्कर डाल दी और मेरे सामने रख कर कहने लगीं, "क्यों रे, भूखा हो तो इसमें रात की रोटी भी मींज दूँ?" मैंने कहा, "नहीं अम्मा, मैं तो दूध-रोटी खा कर ही आया हूँ, यह दूध भी बहुत है।" खैर, दूध पी कर आया तो काका ने कहा "जा, हाथ-पाँव-मुँह अच्छी तरह धो आ, और देख, पेशाब वगैरह न की हो, तो पहिले उससे निपट लेना! फिर हाथ-पाँव-मुँह धोना!" जब मैं धो-धा कर आया, तो वे मुझे एक एकान्त

कमरे में ले गये। वहाँ लोभान, अगरबत्ती जल रही थी। समाई में घी की बाती भी टिमटिमा रही थी। पूरब की ओर मुँह करा कर मुझे पाट पर बैठा दिया और मेरी ओर मुँह करके काका बैठ गये। नथमल सेठ काका के पास बैठ गया और मेरी ओर घूर-घूर कर देखने लगा। मैंने जरा सहमते हुए कहा, "मुझसे यह कौन-सी पूजा करा रहे हो?" काका ने सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "बेटा, घबड़ा मत, तुझे एक तमाशा दिखाता हूँ। तू खुश हो जायगा।" काका से हमारा खूब घरोबा था। उन पर अविश्वास का कारण न था। अतः चुपचाप मैं उनकी विद्या की करामात देखने को उत्सुक हो उठा। काका ने एक डिबिया से काजल निकाल कर, मेरे दाहिने हाथ के अँगूठे के नाखून को रंग दिया और कहा, "इसी काले निशान पर आँखें जमा कर देखना! इधर-उधर मत देखना! जो हम कहें, बोलते जाना! कुछ दिखाई दे, तो घबड़ाना मत, हमको बता देना! समझ गया न?" मैंने सिर हिला कर "हाँ" कहा।

काका ने कहना शुरू किया, 'कहो, भिश्ती आओ!"

मैंने कहा, "भिश्ती आओ!"

काका ने पूछा, "आया?"

मैंने कहा, "ऊँ-हूँ ......"

"नहीं आया? अच्छा बोलो, जल्दी आओ, फौरन आओ! ध्यान से देखना, कुछ काली-काली छाया-सी दिखेगी। दिखी न? ज़रूर दिखी होगी।" काका बोलते गये।

"हाँ, दिख रही है।" मैंने कहा।

"ठीक, अच्छा उससे कहो, मशक से पानी छिड़को, छिड़क रहा होगा ! है न ?"

"हाँ, छिड़क रहा है।"

"अच्छा कहो, नौकर आओ, दरी बिछाओ ! आया न ? देखो, गौर से देखो, आया होगा, दरी बिछा रहा होगा।"

"हूँ।"

"अच्छा कहो, कुर्सी टेबल रखो ! रख दी न ?"

"हूँ।"

"ठीक, अब बोलो, दरबार लग जा ! देखना, बीच की कुर्सी में काला चोगा पहने एक आदमी बैठेगा। उसके दोनों तरफ़ भी आदमी होंगे। चपरासी भी दिखेंगे। दिख रहे होंगे। हैं न ?"

"हाँ।"

"बहुत ठीक, अब बोलो, साहब ! यह जो नथमल सेठ बैठे हैं, आपसे एक सवाल पूछ रहे हैं। इनकी गाय गुम गयी है। किधर गयी है, सामने तख़्ते पर लिख दीजिए ! लिखा कुछ ?"

"ऊँ-हूँ।" मैंने दाएँ-बाएँ सिर हिला कर कहा, "नहीं।"

"अच्छा फिर बोलो, साहब ! लिखिए, जल्दी लिखिए ! आपको ज्यादा तकलीफ़ नहीं देंगे। ज़रा ध्यान से देखो तो, लिखा होगा।"

"हाँ, कुछ लिखा तो है, पर समझ में नहीं आता।"

"पूरब लिखा है ? पश्चिम है ? उत्तर है ? क्या है ?"

मैंने कह दिया, "उत्तर।"

"शाबाश, अब बोलो, दरबार बरखास्त हो, साहब चले जाओ, चपरासी चले जाओ, भिश्ती, नौकर, सभी चले जाओ, तकलीफ़ के लिए माफ करना !"

काका बोलते जाते और मैं दुहराता जाता। नाखून की कजली पर लगा हुआ दरबार बरख़ास्त हुआ। मैंने आँखें मल कर उन्हें विश्राम दिया। काका ने सेठ से कहा, "हाँ, जाओ, शनिवारे की काँजीहौस में गाय है, मिल जाएगी।"

"अच्छा बाबू ! तुम भी जाओ।"

मैंने, सच कहूँ, अन्दाज़ से 'उत्तर' कह दिया था। मुझे कहीं कुछ ख़ाक नहीं दिखा था। दोपहर को काका रास्ते में मिले थे और शायद उन्होंने वही बात कही थी, जो कल रात सपने में सुनाई दी थी।

काका को तंत्र-मंत्र का शौक था। भूत-प्रेत भी वे उतारते। उन्हें पेड़ पर कीलते (घर के सामने के नीम के पेड़ में कई कीले गड़े हुए हैं), शीशी में भी उतारते। रोज़ देहातों से औरतों का आना-जाना लगा रहता। सरकारी ड्यूटी से ज्यों ही फ़ुरसत पाते, झाड़-फूँक में लग जाते। काका भूत कैसे उतारते हैं, यह देखने की बड़ी इच्छा थी। पर भूत से डरने के कारण, वह दृष्य देखने का साहस नहीं होता था। एक साल दिवाली का दिन था। देहात की चार-पाँच गाड़ियाँ उनके घर के नीम के नीचे छूटी हुई थीं। मालूम हुआ, भूत उतरवाने वाले आये हैं। काका के पास गया। मैंने उनसे अपने मन की बात कही और मन का डर भी बताया। "पगले कहीं के ! भूत भी डरने की चीज है ? देख, रात में, मैं कैसे शीशी में उतारता हूँ ? शाम को आ, ज़रूर आ !"

शाम को गया। काका की बैठक में चार-छः आदमी दो-तीन औरतों के साथ बैठे थे। लोभान जल रहा था। काका के ठीक सामने एक औरत बैठी हुई थी। वह घूँघट काढ़े हुए थी। काका होठों में कुछ बुदबुदाते और फिर ज़ोर से कहते, "क्यों ? कौन है ? आता क्यों नहीं ? क्यों सता रहा है ?" औरत झूमने लगी, खूब हिलने लगी। दो साथ की औरतों ने उसे सँभाल लिया। बोलीं "भाव आयो, भाव आयो।"

"हाँ, अब आया। बोल तू कौन है ?"

"ग्यारसी।"

"अच्छा, तू है ! क्यों सताती है ?"

"यह मेरी सौत है, मैं इसके घर में ही रहती हूँ।"

"तो तेरा इसने क्या बिगाड़ा ?"

"इसने मेरा घर बर्बाद किया। मैं इसे बर्बाद करूँगी। ले जाऊँगी, नहीं छोडूँगी।" औरत तन कर बोलने लगी और घूँघट हट गया। औरतें घूँघट ठीक करतीं और वह हटा देती। काका ने लोगों से कहा, "रहने दो मुँह खुला !" फिर भाव वाली औरत की आँखों में जोरों से आँखें तरेर कर गरजे, "नहीं, तुझे इसे छोड़ना पड़ेगा!" फिर नरम पड़े, "तेरे नाम की कथा कर देंगे, परसाद बाँट देंगे।"

"नहीं छोडूँगी, नहीं छोडूँगी ! यह मेरे लड़के के साथ बुरा बरताव करती है। इसी की वजह से मैं मरी। इसने मेरा घर बिगाड़ा। मैं ले जाऊँगी, इसको सुख से नहीं रहने दूँगी !" होठ काट कर वह बोलने लगी।

काका ज्यों-ज्यों समझाते, वह अकड़ती जाती। फिर उन्होंने मन्त्र पढ़ा, ज़ोर-ज़ोर से पढ़ा और औरत का झोंटा पकड़ लिया। कहने लगे, "उतर, देख, यह शीशी है, इसमें उतरना होगा। अभी उतर, बहुत समझाया, नहीं मानी! अब उतर, जल्दी उतर!"

"नहीं दादा, मै छोड़ दूँगी, शीशी में नहीं, सच, छोड़ दूँगी, मानो! मुझे लगता है, सिर फटा जा रहा है।"

"नहीं, तू झूठ बोलती है, छोड़ने वाली नहीं है। चल उतर, उतर, देख यह शीशी है।" औरत शीशी की ओर देखती ही नहीं थी। काका मन्त्र पर मन्त्र पढ़ते जाते और उसे शीशी दिखाते जाते। अन्त में एक झटका दे कर औरत कुछ शिथिल हो गयी। काका ने उसके मुँह पर पानी के छींटे मारे और वह होश में आ गयी। उसने घूँघट काढ़ लिया। काका ने पहिले ही शीशी में डाँट लगा दिया था। प्रसन्न हो कर बोले, "ग्यारसी गयी। यह शीशी दूर जंगल में गढ़ा खोद कर गाड़ आओ!" एक आदमी शीशी ले कर चला गया। दूसरे ने नारियल फोड़ा और परसाद बाँट दिया। साथ में बँधी हुई मिठाई काका के पास रख दी। काका से मैंने पूछा, "आपने चुड़ैल को नीम में क्यों नहीं कीला?" वे बोले, "कीलने में डर रहता है। अगर कीला उखड़ गया, तो भूत फिर सता सकता है। शीशी में उतारने से वह ज़मीन में हमेशा को गड़ जाता है।"

मैंने देखा, आदमी शीशी गाड़ कर आ गया और तब प्रत्येक आदमी ने काका के पैर पड़े। औरत ने भी दोनों हाथों में आँचल का छोर पकड़ कर, काका के पैरों में माथा टेक

दिया। ऐसा लगा, वह स्वस्थ हो गयी। सब गाड़ी के पास नीम के नीचे चले गये। काका ने उठते हुए कहा, "चौधरी, गया हो आना!"

जग्गू काका की 'ओझाई' बड़ी प्रसिद्ध थी। उनका विश्वास ही नहीं, अनुभव भी था कि भूत, चुड़ैल, जिन आदि प्रेतात्माओं का अस्तित्व होता है। पर कमज़ोर मन वालों पर ही उनका विशेष प्रभाव दीख पड़ता है। इनसे बचने के लिए वे लोगों को हनुमान चालीसा और गायत्री के जप का नुस्खा बतलाया करते थे। वे मन्त्र से बिच्छू का विष उतारना जानते थे। शायद ही कोई दिन खाली जाता, जब एक-दो बिच्छू के मारे हुए या प्रेत के सताए हुए उनके पास न आते हों। वे अपने इस गुण का पारिश्रमिक नहीं लेते थे। उनका विश्वास था कि जिस दिन उन्होंने हाथ से ताँबे का पैसा छुआ कि उनकी विद्या उनके पास से गयी।

चोरी, डकैती, कत्ल आदि सरकारी मुकदमों में वे अपनी मन्त्र-विद्या का प्रयोग नहीं करते थे। इन मामलों को कानून की राह ही जाने देते थे।

उनका स्वभाव शान्त था। भूत-प्रेत उतारते समय ही उनके नेत्र लाल होते थे। पेन्शन लेकर वे खण्डवा से तुलसीदास के प्रसिद्ध ग्राम राजापुर चले गये थे। उनका मुझ पर स्नेह कम नहीं हुआ था। प्रति वर्ष आम की फसल पर अमावट (आम के पापड़) की पार्सल भेजते रहते। इस साल वह पार्सल नहीं आयी क्योंकि अब उसे भेजने वाला ही नहीं रह गया!

ब्लैकी

शहर से बाहर मेरा मकान है। अकेला हूँ। कमरे में रेडियो लगा रक्खा है। बैटरी से चलता है। सुबह-शाम उसकी बटन खुली रहती है। नागपुर पर काँटा रुका रहता है। मैं रहूँ या न रहूँ, सुनूँ या न सुनूँ वह बजता रहता है। कभी "चल-चल रे नौजवान" कभी "बीनी-जीनी झीनी चदरिया" कभी, "आता वाटयेंची भाव गीतांची ध्वनि-मुद्रिका ऐका" कभी, "सरकार की यह पंचवर्षीय योजना जनता की भलाई के लिये है" और कभी, "श्री जवाहरलाल नेहरू हेज़ रीच्ड मास्को" की आवाज़ें कानों पर पड़ा करती हैं। मैं रेडियो को विशेष उद्देश्य से खोले रहता हूँ। भूले-भटके दिन और रातचरियों को यह भ्रमाने के लिये कि इस मकान में एक ही प्राणी नहीं रहता, और भी रहते हैं।

❖ ❖ ❖ ❖

रात जब कृष्णाभिसारिका बनती है, रह-रह कर सिहरन पैदा होने लगती है। रेडिओ के साथियों से भी मन नहीं बहलता, बल नहीं मिलता।

❖ ❖ ❖ ❖

कुछ दिन से मकान के सामने एक कुत्ता बैठने लगा है। एक दिन यों ही घूमता-घामता आ गया था। मैंने एक टुकड़ा डाल दिया, वह रम गया। अब रोज टुकड़े डालता हूँ, पल गया है। उसे मैं 'ब्लैकी-ब्लैकी' पुकारता हूँ। वह पूँछ हिलाता हुआ मेरे पास आ जाता है और मेरी आँखों में आँखें डालकर 'ऊँ-ऊँ, चूँ-चूँ' करने लगता है। कभी चित्त लेटकर, सामने के हाथ सिकोड़ कर दायें-बायें होने लगता है। बड़ी ईमानदारी के साथ मेरे घर की रखवाली करता है। रात को ज़रा भी कहीं से आहट पाता है, भोंकने लगता है। सजातीय स्वर को तो दूर से ही सुनकर उसकी जीभ बेहद खुजलाने लगती है। 'भों-भों' से परेशानी हो जाती है। कभी-कभी ऐसी आवाज़ भी निकालता है, मानों किसी की याद में रो रहा हो। हमारे देश में कुत्ते के रुदन को अशुभ माना जाता है। मैं विश्वास करूँ या न करूँ पर इससे इनकार नहीं करता कि जब वह मुँह ऊपर उठाकर लगातार 'ऊ ऊ' के लम्बे स्वर में रोना शुरू करता है तो मैं उसे डाँटे-मारे बिना नहीं रहता। कभी चुप हो जाता है, कभी थोड़ी दूर भाग कर अपने जी का भार हलका कर आता है।

❖ ❖ ❖ ❖

एक दिन एक मित्र ने पूछा, "तुम हिन्दी के समर्थक हो और इसका नाम 'ब्लैकी' रखे हुये हो। क्या देशी नाम नहीं सूझा? अरे, कलुआ ही रख लेते।" मैंने उत्तर दिया, "मैंने कुत्ते को लोगों पर आतंक जमाने के लिए पाला है और अभी हमारे देश में अंगरेजी का आतंक है।"

"तुम्हारी कैफ़ियत मज़े की है।" हँसते हुए मित्र चले गये।

जब मैं प्रातः भ्रमण के लिये निकलता हूँ, ब्लैकी मेरे साथ हो लेता है। उस समय उसकी क्रीडा देखने योग्य होती है। वह थोड़ी दूर चलकर कभी एकपाद हो दाएँ या बाएँ झुककर लघुशंका करने लगता है, कभी पिछले दोनों पैरों को झुका कर दीर्घशंका से निवृत होने लगता है और कभी हड्डी के टुकड़े को ही चचोरने लगता है। यह सब क्रियायें झपाटे से होती जाती हैं!

वह मार्ग में मिलने वाले अपने जाति-बन्धुओं से मुठभेड़ भी लेता चलता है। कभी गुर्राता कभी दो-दो हाथ लेता और कभी दुम दबा कर मेरे सामने भाग आता है। आक्रमणकारी मेरी छड़ी देख कर दूर रह जाते हैं और गुर्राते रहते हैं।

ब्लैकी का एक स्वभाव यह भी है कि वह मनुष्य पर, जो विजातीय है, अकारण आक्रमण नहीं करता परंतु स्वजातीयों से अकारण ही लोहा लेता रहता है। ज्योंही वे उसके सामने पड़ते हैं, सम सामयिक कवियों की तरह उनकी ओर बुरी तरह घूरता, गुर्राता और झपटता है।

❖ ❖ ❖ ❖

वही मित्र जिन्हें मेरे कुत्ते के अंगरेजी नाम पर आपत्ति थी, कुछ महीनों बाद मेरे मकान पर आए हुए हैं, कह रहे हैं— "तुम्हारा 'ब्लैकी' तो अब जान्स्टन के बँगले पर दिखाई देने लगा है। उसके सामने इस तरह पूँछ हिलाता है, मानो जनम से उसी का रहा हो। क्या तुमने उसे बेच दिया ?"

मैंने कहा, "बेचा तो मैंने नहीं, वह खुद बिक गया। एक दिन जान्स्टन के यहाँ मैं गया था। वह भी मेरे साथ था। जब

गैं लौटने लगा तब वह मेरे साथ नहीं लौटा। मैंने ज़रा पीछे फिर कर 'ब्लैकी-ब्लैकी' आवाज़ दी। तब भी वह सदा की भाँति पूँछ हिलाता हुआ नहीं दौड़ा। फिर मैंने अच्छी तरह पीछे फिर कर देखा तो ज्ञात हुआ, जान्स्टन के बावर्ची ने मांस का बड़ा टुकड़ा डाल दिया है।"

मित्र ने साश्चर्य कहा, "यह तो अजीब बात है! कुत्ता तो ऐसा प्राणी है जो वफ़ादार होता है, जिसने सब परिजनों के, यहाँ तक कि अर्धांगिनी के, त्याग देने पर भी युधिष्ठिर का अंत तक साथ दिया था।"

मैंने हँस कर कहा, "मित्र! वह द्वापर का कुत्ता, धर्म-रूप था। यह कलियुग का कुत्ता, मनुष्य-रूप है।"

कन्हैया

वह जीते हुए खिलाड़ी की तरह "हुर्रे हुर्रे" की आवाज़ें लगाता बकरियों के झुण्ड के पीछे लपका जा रहा है। सिर पर किमचियों और पत्तों का बना हुआ टोप; हाथ में बाँस की गाँठदार अगगढ़ लकड़ी; शरीर उघड़ा, धोती नितम्बों पर, कमर की अरगनी पर चढ़ी। देह की रंगत न डामर सी, न गेहूं सी; कुछ-कुछ मटमैले चने-सी। आँखें बिज्जू-सीं, धँसी-सीं। नासिका न चीनी-सी; न सुग्गे-सी, दोनों के बीच की। ओंठ सूखे, मुख की खिड़की की तरह खुले हुए, सिर संन्यासी-सा मुड़ा; मूँछ 'क्लीनशेव', ठुड्डी पर कभी-कभी बकरे की दाढ़ी की छटा। चिल्ला रहा है, "अरे ईमू[1] आव ना .... कहाँ भागी जात हव ...."

"अरे भैया .... हँकार देव ना उन बुकरियन[2] का"

यह है किंचित् वक्रकटि कन्हैया, जो नागपुर के धरमपेठ एक्स्टेंशन के मैदान में प्राय: दिखाई देता है। वहीं खाली प्लाट

---

[1] इस ओर [2] बकरियों को

में एक झोपड़ी डालकर रहता है। साथ में बुढ़िया है। कहता है 'महरिया है।'

कन्हैया उत्तर प्रदेश का अहीर है। वर्षों से यहीं बस गया है। एक दिन मैंने उससे पूछा, "कन्हई, तुम जब से यहाँ आए हो, कभी 'देस' गए हो? तुम्हारा कोई रिश्तेदार है? आम खाने का मन नहीं होता?

"होत काहे नहीं महाराज! का कही .... कौन मूं लैके जाई? .... ई बुढ़िया का (जरा मुसकुराकर) .... का कही .... भगा लाए हन .... इसका आदमी जो है .... फौजदारी ना करेगा?"

"कन्हई! तुम्हारी उमर क्या होगी?"

"बस यही पच्चीस-तीस की .... दाँत तो बीमारी मा गलि गे।"[1]

कन्हैया सत्तर से कम नहीं जान पड़ता। परंतु यहीं पास के मुहल्ले में एक अहीर की १५ वर्षीया कन्या से विवाह करना चाहता था। उस अहीर ने इसे बेवकूफ़ बनाकर इससे दो-तीन सौ रुपये ऐंठ भी लिए थे। यद्यपि उससे इसकी शादी नहीं हुई तो भी उसके कारण इसके घर में झगड़ा होता रहता है। एक दिन उसकी बुढ़िया मेरे दरवाजे पर आकर सिसक-सिसक कर शिकायत करने लगी, "का कही महाराज! बुढ़ौना बहुतै तंग करत है। खाये का नहीं देत .... कपड़ा-लत्ता नहीं लात .... का खाँव? का पहिरौं? यहिका ऊ अहीर बहकावत

१ बीमारी में गल गये।

है.... सादी की बाग चलाये है.... मुहिका कहत है, भाग जा.... जी होत है, कुआं मा कूद परों.... अर्जी लिख देव ना महाराज, थाने मा दै आवों।"

❖ ❖ ❖ ❖

कन्हैया प्रथम महायुद्ध में फ्रांस तक की सैर कर आया है। पल्टनियों के लिए खाई खोदता रहा है। गोला-गोलियों की बौछारों में भी मैदान में डटा रहा है। कहता है, "महाराज ! छेदा साह का ताबीज गले मा रहा है और हनुमान-चालीसा का पाठ करत रहौं। याही ते कुछ नहीं भा ?" लड़ाई जब समाप्त हो गई तब इसे डिस्चार्ज कर दिया गया। जब घर लौटा तब टेंट गरम थी, रक्त गरम था, दिमाग गरम था। काले बूट पहनता, खाकी कपड़े डटाए रहता। मूँछें मरोड़ता, तनकर चलता, आँखों में सुरमा लगाता और मुख में बीड़ा चिगलता।

गाँव भर में कन्हैया की बहादुरी की कहानियाँ फैली हुई थीं। फैलानेवाला भी तो यही था। एक बार खंदक पर जर्मनी (यह जर्मनों को जर्मनी कहता है) आए तो कन्हई ने उन पर धड़ाधड़ बंदूकें दागीं और उनका सफाया कर दिया।

दूसरी बार एक जर्मनी ने ऊपर हाथ उठाकर कन्हई से माफ़ी माँगी और यह उसे बाँधकर जमादार के पास ले गया जमादार ने इसे इनाम भी दिया।

गोरी मेम साहब ने एकबार अपने हाथ से गरम बनियान बुनकर कन्हई को दी थी। इस तरह की कई कहानियाँ गाँव के लोगों के मुख पर थीं। जसोदा कुए पर पानी भरने जाती और वहीं

कन्हई भी अपनी प्यास बुझाने पहुँचता। कई दिन तक यह क्रम जारी रहा। एक दिन गाँव में हल्ला मच गया--

"कन्हई फौजदार जसौदा को लेकर भाग गया।"

❖ ❖ ❖ ❖

नागपुर आने पर कन्हैया ने बकरियों को पालने, चराने और उनका दूध बेचने का धंधा उठा लिया जो आज तक चल रहा है। बच्चों और रोगियों को जब बकरी के दूध की आवश्यकता पड़ती है तब कन्हैया की ही याद की जाती है। कन्हैया में एक गुण यह है कि वह दूध में पानी नहीं डालता। एक दिन मैंने पूछा, "क्यों बाबा! दूध में पानी क्यों नहीं मिलाते? क्या बकरी के थन नहीं जलते?'

उसने साँस भर कर कहा, "जिन्नगी[1] मा बहुत पाप कीन्ह हैं। अब गोरस (कन्हई बकरियों के दूध को भी गोरस कहता है) मा बेइमानी न करब।"

❖ ❖ ❖ ❖

कन्हैया मेरे यहाँ गाय दुहने आता है। बड़े प्रेम से कोई गीत गुनगुनाता जाता है और दूध की सेंट निकालता जाता है। वह गाय के थनों से पूरा दूध कभी नहीं निकालता। कहता है-"बच्छन का दूध चही ना। सब कैसे दुहौं?"

जब उससे कहा जाता है, "बाबा, थनों में अभी बहुत दूध भरा है" तब खीज कर कहता है, "तौ का बच्छन का मारि डारौं?" यदि रोज़-रोज़ ज्यादा दूध निकालने का आग्रह किया

१ जिन्दगी

जाता है तो फिर बड़ी रुखाई से बोल देता है-"तौ फिर माफी देव महाराज, दूसर दुहारी लगा लेव।"

प्रति वर्ष दीपावली की धनतेरस को अपने पैसों से दो-तीन गाड़ी घास खरीद कर गाय बछड़ों को चरने के लिए मैदान में डाल देता है। कन्हैया का यह सार्वजनिक घास-दान प्रसिद्ध है।

❖ ❖ ❖ ❖

कन्हैया को ताड़ी-शराब, तम्बाखू आदि का बिलकुल नशा नहीं है। यदि आप दे दें तो एक प्याला सिंगल या डबल चाय अवश्य पी लेता है पर एक व्यसन उसके गले बुरी तरह पड़ा है। रोज़ सट्टा खेलता है। रात को अमेरिकन काटन फीचर के अंकों पर चार-छै आने लगाए बिना नहीं सोता। सवेरे अखबार आते ही मेरे पास आ जाता है। पूछता है, "का आवा ? किते का फरक आवा ?" यदि उसका अंक मिल जाता है तो साष्टांग दंडवत करता है और अखबार के निर्दिष्ट 'आँक' को बड़ी देर तक देखता है; हालांकि काला आखर उसके लिए भैंस बराबर है या यों कहिए बकरी बराबर है। यदि नहीं मिलता तो कहता है, "मुहिका कल बुकरियन का ख्वाब आवा रहै। बारा लगाए का रहै, नहीं लगावा। याही ते धोका हुइगा।" अंक लगाने के उसके अपने विचित्र विश्वास हैं। रात को जब सपने में उसे बकरियाँ दिखलाई देती हैं तो समझता है, कल बारह का अंक आनेवाला है। इसी तरह साँप का एक, कुत्ते के चार, भैंस के तीन, और गाय के पाँच मानता है। प्रत्येक रात को इन प्राणियों में से कोई न कोई उसके स्वप्न में आता ही है। कहीं कोई साधु-संन्यासी दिखाई देता है तो उसके पीछे

लग जाता है और पूछता है, "महाराज! कल कौन आँक आई ?" एकबार एक धूर्त बाबा अम्बाझरी के तालाब के पास बरगद के पेड़ के नीचे बैठ गया। उसके पास नित्य प्रातः-सायं भीड़ लगने लगी। वहाँ कन्हैया भी दिखलाई देता। बाबा प्रत्येक के कान में भिन्न-भिन्न अंक कह देता। किसी न किसी का अंक सत्य निकल ही आता। एक दो बार कन्हैया का भी भाग्य खुला। बस, रोज बकरियों का दूध लेकर बाबा के पास हाजि़र। महीने भर दूध पिलाने पर भी जब "आँक" न जमा तो मेरे पास आकर कहने लगा, "महाराज! ऊ रामनाथ वावा बहुत बदमास है। पुलिस मा दे देव ना ?"

❖ ❖ ❖ ❖

कन्हैया को पौराणिक कथाओं का अच्छा ज्ञान है। जब लहर में आता है, रामकथा के प्रसंग गाने लगता है। मंदोदरी रावण को समझा रही है—

"मंदोदरी समझावै रावन का,
कि घर में अरे चंदन पालकी
धरी जो ले उतार
वह मा बैठार मातु जानकी
दोउ जन बनैं कहार।
लेके मिलो सिया राम तें
भोगो अटल रे राज।"

❖ ❖ ❖

"गरबी बोला रावना रे
हरी नार ना दैहौं
ब्याही चहै लै जाय।"

मंदोदरी कहतु है–
"लंका तोर ढहान,
और मीच तोर नियरान।
सुनु रे रावना।"

सब पंक्तियों में तुकें मिलें या न मिलें, कन्हैया का गला तुक मिला लेता है, गा ही लेता है।

❖ ❖ ❖ ❖

कन्हैया सामयिक घटनाओं को भी सुनता रहता है। जब सट्टा लगाने जाता है तो सटोरियों के बीच गप-शप होती रहती है। वहीं यहाँ-वहाँ की भनक कानों में पड़ती रहती है।

सुभाष बाबू का बड़ा भक्त है। कहता है, "सोभासिंग (सुभाष बाबू को वह इसी नाम से पुकारता है) का राज होत तो मँहगी न रहत। गांधी बाबा केर राज मा ई अंधेर? रुपया पायली अनाज! सुराज सोभासिंग ने लड़ाई करिके जीता है। का कही, व होत तो सुराज की मजा आवत ....।"

पाकिस्तान और काश्मीर के संघर्ष का भी संवाद उसके कानों में पड़ा है। एक दिन मेरा लड़का एन. सी. सी. की पोशाक पहिन कर उसके सामने आया। पूछ बैठा-"महाराज! का भैया पलटन मा हुई गा?" मैंने विनोद में कहा, "हाँ, काश्मीर जा रहा है।" इतना सुनते ही वह घबराया-"महाराज, ई का कीन्हेउ? अभी कच्ची उमिर है। झंडेल साहब[1] का लिखि दीन्ह्यो, पाछै राखैं।" जब तक वह एक महीने के कैम्प से नहीं लौटा, मुझसे पूछता ही रहता-"भैया केर कागद आवा?

---

[1] जनरल साहब

कैस हालचाल है ?" जब मैं "हाँ" कहता और यह भी जोड़ देता कि वह तुम्हारी याद करता है तब कन्हैया की आँखों में हर्ष-विभोरक अश्रु छलछला आते कहता, "महराज! तुम ठीक नहीं कीन्ह्यो, अब अधरम की लड़ाई होत है। हाथ ऊपर कीन्हेऊ पै गोली दाग दीन्ह जात है।" जिस समय उसने लड़के को घर लौटते देखा, दौड़ा-दौड़ा आया और उसके पैरों पर सिर रखकर बोला, "कसमीर जीत लीन्ह का ?" ज्योंही उसने "हाँ" कहा, कन्हैया उछल पड़ा, "वहौ हिन्दुस्तान आय ना। बहादुरी का काम कीन्ह भैया तुम ! वाह ! "

कन्हैया की झोपड़ी बरसात में जहाँ-तहाँ चूती है। उसमें बकरे-बकरियों की भीड़ लग जाती है। एक कोने में बुढ़िया दबकी रहती है और यह एक दो बकरियों के बच्चों को लेकर मेरे यहाँ आ जाता है और उन्हें छाती से चिपका कर सो रहता है। साथ में एक कुत्ता भी रहता है, जो बकरियों के बच्चों पर नहीं झपटता। कन्हैया यदि निकट आ जाय तो उसके शरीर से बकरी की गंध आने लगती है।

कन्हैया को चक्कर आने की बीमारी है। जब उसका दौरा आता है, पेड़ के नीचे लेट जाता है और घंटों लेटा रहता है। कभी-कभी घाम में लेट कर खूब पसीना लेता है और ठीक हो जाता है। उसकी बीमारी का दौरा चौबीस घंटे से अधिक नहीं ठहरता। बिना भूख न कुछ खाता, बिना प्यास न कुछ पीता। यही उसके स्वास्थ्य का रहस्य है।

एक दिन कन्हैया दूध दुहने नहीं आया, बीमार था।

संदेशा भेज कर मुझे बुलवाया और उसने अपने भतीजे के नाम 'देस' चिट्ठी लिखवाई। फिर तीसरे दिन स्वयं लकड़ी टेकते-टेकते आकर पूछने लगा, "जबाब आवा महराज ?" जब मैं कहता, "नहीं" तो बोलता, "कागज का जबाब जरूर आये का चही।" जब-जब मेरे मकान की ओर चिट्ठीरसे को आते देखता, उसके पीछे हो लेता और उससे पूछता, "का हो पोसमेन, हमार चिट्ठी नहीं लावत हौ। का बात भई ? जबाब तो आये का चही ?" दो-तीन महीने इस प्रकार बीत जाने के बाद उसका कार्ड लौट कर आया। कन्हैया अभी भी बीमार है। धरती पर पड़ा है। इस बार गहरा दौरा आया है। घर में पड़े-पड़े भी वह चिट्ठी की खबर पुछवाता रहा। बुढ़िया रोज़ आती कहती, "महाराज, बुढ़ौना चिट्ठी की रट लगाए है। कब लौं आई ?" मैं क्या उत्तर देता ? आज जब कार्ड आया तब उसे लेकर उसके पास गया, "कन्हैया ! चिट्ठी आ गई।" यह सुनकर उसका चेहरा खिल गया, "का लिखा है ?" मैंने पढ़ा, "इस नाम का कोई अहीर गाँव में नहीं है। पता चला है, वह चालीस साल पहिले मर गया।" "का जबाब आवा है ? सुखई नहीं रहा ?..... बिलकुल जबान रहा ऊ तो..... तौ महाराज, तुम हू अब दो चार दिन मा जबाब दै दीन्ह्यो—काहे से कागद का जबाब देये का चही ना ? तौ ऐस दै दीन्ह्यो। कन्हैया देस आये का मन करत करत प्राण त्याग दीन्हेस। यहौ लिखि दीन्ह्यो, जसोदा के मरद ते खूब माफी माँगत रहा....." कहते-कहते उसकी सजल आँखें झोपड़ी के एक कोने में मिमियाने वाली बकरी पर ठहर गई।

पूसी

पूस का महीना। जाड़े की रात। स-स-स-स दाँत बजाने वाली शीत। नागपुर गरमी के चटकों के लिए प्रसिद्ध है, जाड़े के सीत्कार के लिए नहीं। पर आज तो उसकी प्रसिद्धि पर ही पानी फिरा जा रहा है. उसका विपर्यय हो गया है। जिस प्रकार तारों की छाया के पूर्व ही पखेरू फर्-फर् अपने घोंसलों की ओर उड़कर पंख समेट उनमें समा जाते हैं उसी प्रकार नगपुरिए भी साँझ होते ही सड़कों को खाली कर घरों में गरमाहट खोजने चले गए हैं। मैं भी जल्दी घर आ गया। जल्दी-जल्दी भोजन से निवृत्त हुआ। बहुत समय तक सिगड़ी के अंगारों से तापता रहा और जब आगी राख हो गई तब बिस्तरे में कम्बल के ऊपर रजाई डाल, ओढ़ दुबक गया। फिर घुटनों को छाती की ओर मोड़कर करवट ले विचार में डूब गया...... शहर के भीतर इतनी ठंड है! बापरे बाप! बाहर जहाँ खेत ही खेत हैं, क्या होता होगा। दुष्ट पंडित को भी क्या सूझी कि कल ही का मुहूर्त निकाल दिया? कहता था गृह-प्रवेश का

यही उत्तम मुहूर्त बनता है। .... इतने ही में दाईं ओर से हवा सुरसुरा कर घुस आई। रजाई को अच्छी तरह सहेजकर फिर डूबने-उतराने लगा .....तो, नहीं जाऊँगा। इस मौसम में जाना केन्सल ...... अरे, कैसे नहीं जाओगे ? नया मकान है, यार लोग दरवाजे-खिड़कियों के पल्ले निकाल कर हवा हो जायेंगे। उस दिन देखा नहीं, अम्बाझरी तालाब के बाँध पर जो बेंचें रखी हुई थीं, उन्हें लोग रातों-रात गुरखों की चौकीदारी में भी उखाड़ कर नौ दो ग्यारह हो गए ..... फिर "खाली घर शैतान का"। क्या सचमुच भूत प्रेत होते हैं ? पता नहीं——पर ऐसा मौक़ा ही क्यों दिया जाय कि ज़िंदा और मरे लोगों की शरारतें शुरू हो जायँ ? .... फिर शीत का एक झोंका लगा .... नहीं-नहीं, ऐसी ठण्ड में क्या मरने जाऊँगा ? भाड़ में जाय ऐसा मुहूरत .... कहीं निमोनिया हो गया तो .... मुझे न सही .... नन्हू, छुन्नू, मुन्नू, ठुन्नू, लल्ली, कल्ली, मल्ली, झल्ली में से किसी को .... तो। .... लेने के देने पड़ जायेंगे। खुली हवा की मौज ही हवा हो जायगी .... क्या पंडितों की सायत के पीछे पड़े हो ? .... सब दिन भगवान के बनाए हुए हैं। शुभ-अशुभ का ढकोसला क्यों ? .... छोड़ो पोंगापन्थीपन को .... ओह ! दो वर्ष पूर्व जब छुन्नू निमोनिया में पड़ा था .... कितनी परेशानी उठानी पड़ी थी ? उसका "घर्‌घर्‌" ऊर्ध्व श्वास लेना कितना असह्य था ! देखा नहीं जाता था। छाती पर एंटीफ्लाजेस्टीन की पट्टी चढ़ानी पड़ी, सुबह-शाम डाक्टर स्टेथेस्कोप से उसके फेफड़ों की जाँच करता, कभी कहता——ज़रा-सा "पैच" है, ठीक हो जायगा,

कभी कहता, अरे "इसके तो दोनों फेफड़े जकड़े हुए हैं।" कैसा मुँह बनाकर चिंता बतलाता और फिर धीरे से धैर्य बँधाता "चिंता नहीं....नई दवा दे देंगे, अच्छा हो जायगा—डोन्ट वरी।"

न जाने कितनी सुइयाँ चुभोने के बाद राम राम कर वह बिस्तर छोड़ सका था!.... नहीं, नहीं, तय है। मैं कल नहीं जाऊँगा। घर प्यारा है या अपने फूल-से बच्चे?.... क्या कमज़ोरी ला रहे हो! चलो जी, कुछ नहीं होगा। "हुइ है वहै जो राम रचि राखा।" तनिक सोचो तो, इसी मकान में छुन्नू को निमोनिया क्यों हुआ? यह तो बीच शहर में घिरा हुआ है न! और यह भी अच्छा पागलपन है! दिमाग में ऐसा विचार ही क्यों और कैसे आया कि खुली हवा में ज़्यादा सरदी पड़ती है और निमोनिया हो जाता है.... बर्नर मेकफेडन के "फिजीकल कल्चर" में, याद नहीं, कितनी बार पढ़ा था कि जो बंद कमरों में सोते हैं, मुँह पर लिहाफ़ डालते हैं उन्हें ही सर्दी ज़्यादा सताती है.... अलग करो यह लिहाफ़ मुँह से।.... मैंने रजाई से मुँह बाहर निकाल लिया। फिर याद आया.... छाती से घुटने मोड़कर नहीं सोना चाहिए। मैंने घुटने पैताने की ओर फैलाए ही थे कि पैरों से कोई कोमल चीज़ छू गई और कानों में धीमे से 'म्याऊँ' और 'घुर् घुर् घुर्' की आवाज़ आई। अच्छा, यह बिल्ली है; जाड़े की मारी। पर मेरे घर में तो कोई बिल्ली पली हुई नहीं है। यह कहाँ से आ गई? होगी। मगर पली हुई मालूम होती है वरना चारपाई पर चढ़ने की हिम्मत न करती और वह भी रजाई में

घुसने की। बस, बचपन की घटनाएँ चित्रपट की तरह आँखों के सामने झूलने लगीं.... एक दिन बिल्ली बहुत से बच्चों को लेकर आई थी। "म्याऊँ म्याऊँ" से घर भर गया था। माँ ने कहा था, "बब्बू! किसी एक को पसंद कर ले, उसी को पाल लेंगे।" मैं कभी एक को उठाता, कभी दूसरी को। मेरे लिए यह निर्णय करना कठिन था कि कौन सबसे अच्छी है। सभी सफ़ेद और सभी कोमल। अंत में आँख मूँद कर एक पर हाथ रख दिया और उसी पर पसंदगी की छाप लगा दी। वही पाल ली गई और शेष भगा दी गईं।

छोटी बिल्ली का नाम मैंने पूसी रख लिया क्योंकि अड़ोस-पड़ोस की बिल्लियों का यही नाम सुन रखा था। पूसी मेरे लिए खिलौना बन गई। जब देखो तब टाँगे फिरता, कभी गर्दन पकड़ कर उठाता, कभी दोनों कान पकड़कर "चाऊँ-माऊँ" करता। पहिले तो वह घुर्घुराती, फिर घुड़कती-सी "म्याऊँ" करती और पंजों से नाखून भी निकाल लेती। कभी जब ज्यादा खींची-तानी जाती, पंजा चला देती। कभी कभी मैं उसे छड़ी से पीटता तो वह भाग जाती पर थोड़ी ही देर में फिर लौट आती। उसकी कुछ विचित्र आदतें थीं। जब वह बैठती तब अपनी लम्बी पूँछ का अपने चारों ओर घेरा डाल लेती और जब सबेरे सो कर उठती तो पिछले दो और अगले दो पंजों को आगे फैलाकर अँगड़ाई-सी लेती फिर मध्यभाग को ऊपर उठाकर ऊँट जैसी आकृति बनाती, और कभी सामने अहाते में जाकर दूब कुतरने लगती। जब दूधवाला आता तो चट दरवाज़े पर दौड़ जाती।

जब तक दूध की धार बर्तन में गिरती, उसे एकटक देखा करती। धरती पर गिरे हुए दूध के बूँदों को जल्दी-जल्दी चाट लेती और जब माँ दूध के बरतन को लेकर घर के भीतर जातीं तब वह उनके पैरों में पूँछ हिलाती, आगे-पीछे धँसती-निकलती "म्याऊँ म्याऊँ" और "घुर् घुर्" करती जाती और जब माँ उसकी कटोरी में दूध डालतीं तो जब तक कटोरी धरती पर न आ जाती, उसकी दृष्टि बराबर उसी पर लगी रहती और "घुर् घुर्" की धुन जारी रहती। कटोरी का दूध देखते-देखते चप-चप कर जाती और फिर जीभ से मुँह धोकर एक कोने में बैठ जाती। वहाँ बड़े आराम से अपनी जीभ निकाल कर छाती, पेट, पैर आदि को चाटती रहती और इस तरह अपने सारे शरीर की सफ़ाई कर डालती। उसके मुख के पास के भूरे बालों को मैं उसकी मूँछ कहा करता था जो कभी गिरती नहीं थी, तनी ही रहती थी।

कभी ऐसा भी होता कि दूध का भगोना आग पर चढ़ जाता और भली भाँति गरम न हो पाता तो पूसी नज़र चुरा कर उसके पास पहुँच जाती और दो पंजों पर खड़े होकर दूध में मुँह डाल देती। जब ज़रा गरमी का चटका लगता, भाग जाती। कभी-कभी एक या दोनों पंजों से भगोने को नीचे गिरा देती जिससे सारा दूध बहने लगता। बहन कहती, "क्यों रे बाबू ! तू देखता ही रहा और पूसी ने दूध गिरा दिया।" मैं कहता, "रानी ! तू ही तो पास थी।" भाई-बहन एक दूसरे को दोषी सिद्ध करने का प्रयत्न करते। माँ छड़ी लेकर पहिले बिल्ली पर झपटतीं (जो कदाचित् ही कभी मार झेलने तक ठहरी हो)

और फिर हम दोनों पर टूट पड़तीं । कई बार ऐसा भी होता था कि पूसी दूध पीती दिखलाई देती तो मैं माँ से न कहता परंतु जब दूध का प्याला सामने आता तो बहाना बना देता, "आज दूध नहीं पीऊंगा । न जाने कैसा जी होता है?" बहन को पूसी द्वारा जुठारे गए दूध का पता न होता । वह बेचारी सहज भाव से दूध पी लेती । दूसरे दिन मैं उसे चिढ़ाता, "अब तो तू भी पूसी हो गई रानी ! राम राम ! बिल्ली का जूठा दूध पी गई ! छि: बिल्ली का जूठा ! छि: !" रानी दौड़ी-दौड़ी माँ के पास जाती और कहती, "माँ ! मालूम हुआ, कल बाबू ने दूध क्यों नहीं पिया ? वह पूसी का जुठारा हुआ था ।" माँ मेरी ओर घूरकर डाँटतीं, "क्योंरे बब्बू ?" मैं कहता, "नहीं माँ, रानी झूठी है, मैं तो उसे चिढ़ा रहा था । भला, मेरे सामने पूसी दूध पी सकती थी ?" मैं झूठ बोल रहा था, इसे माँ समझती थीं। पर रानी के मन से जूठे दूध की ग्लानि मिटाने के विचार से उसे समझा देतीं, "रानी ! बब्बू तुझे चिढ़ाता है, कल बिल्ली ने दूध जुठारा थोड़े ही था ।"

एक दिन रानी ने भी दूध पीने से इनकार कर दिया । पर कब ? जब मैं 'गट्-गट्' गिलास नीचे उतार चुका था । मेरा मन ग्लानि से भर गया । माँ के पास दौड़ गया । कहने लगा, "माँ, रानी ने दूध नहीं पीया । इसका मतलब यह हुआ कि पूसी आज दूध जुठार चुकी है । उसने मुझसे कहा भी नहीं ।"

माँ ने झुँझलाकर कहा, "तुम दोनों भाई-बहन इस पूसी को लेकर झगड़ते रहते हो । मैं इसे किसी को दे दूंगी । दूध जुठारने-गिराने की झंझट भी मिट जायगी ।"

पूसी का प्रस्थान हम दोनों को स्वीकार न था अतः हम दोनों ने निश्चय किया कि पूसी के दूध पीने की शिकायत माँ से न करेंगे और जिस दिन उसे पीते देख लेंगे उस दिन दोनों किसी न किसी बहाने दूध नहीं पीयेंगे। हम दोनों ने अपने समझौते की रक्षा की। कभी कह देते, सबेरे नाश्ता ज्यादा हो गया, कभी पेट खराब है। कभी पड़ौस की मौसी के यहाँ भाग जाते। आशय यह कि पूसी के दूध पीने की शिकायत माँ के कानों पर न जाने देते।

कुछ महीनों बाद जाड़े की ऋतु आई। हम भाई-बहन पास ही अलग-अलग चारपाई पर सोते। मैं सात वर्ष का था और वह मुझसे तीन वर्ष जेठी थी। दोनों मनाते, पूसी आ जाती। पूसी कभी मेरी चारपाई पर आती और बहुत बार बहन की। कभी-कभी ऐसा भी होता कि जब बहन की नींद लगी होती तो मैं चुपचाप पूसी को उठा लाता और छाती से चिपका कर सो रहता। वह रजाई से भी ज्यादा गरमी देती। उसका घुर्घुराना कितना प्यारा लगता? मेरा पूसी-चौर-कर्म बहन को न रुचता। वह प्रातः माँ से शिकायत करती, "माँ, रात को बब्बू मेरे पास से पूसी ले गया। मैं तो उसके पास से कभी उठाकर नहीं लाती।" मैं सफाई देता, "भला माँ, मेरी भी नींद रात को कभी खुलती है? यदि मैं बिल्ली उठाता तो वह चिल्लाती नहीं? रानी झूठी है। इसी ने उसे पैरों से दाब दिया होगा और वह भाग कर मेरे पास आ गई होगी।"

"तो अब क्या पूसी के दो टुकड़े कर दूँ जिससे दोनों की

छाती गरमा जाय ? मैं तो हैरान हो गई इस बिल्ली से। कल इसे कहीं दूर भिजवा दूँगी।" माँ ने चिल्लाकर कहा था।

हम भाई-बहन ने पुनः समझौता किया। जिसके बिस्तर में पूसी पहले घुस जायगी वह उसी के साथ रात भर रहेगी।

रात को सोते समय एक ओर मैं धीरे-धीरे "पूसी-पूसी" करने लगता; दूसरी ओर रानी मुँह से पुचपुच कर "पूसी–पूसी" बुलाती। पूसी प्रायः बहन की पुचपुचाहट पर मुग्ध हो जाती और उसी की चारपाई पर कुदक जाती। एक दिन मैंने झुँझलाकर कहा, "रानी, यह ठीक नहीं। तुम्हीं पुचपुचाकर पूसी ले लेती हो। हमारे पास तो वह आती ही नहीं। ऐसा करो, एक रात तुम और एक रात हम उसे लेकर सोयें। नहीं तो मैं माँ से शिकायत करूंगा। वे चिढ़कर उसे ज़रूर भगा देगीं।" रानी को पूसी का विरह असह्य था। उसने तुरंत मेरा प्रस्ताव मान लिया। बिना चीरे–फाड़े पूसी के बराबर दो हिस्से हो गए।

उफ् ! वह दिन कैसे भूल सकता हूँ जब माँ ने सबेरे-सबेरे पुकारा था, "बब्बू, ओ बब्बू ! उठ तो। देख, अपनी चारपाई के नीचे।" पूसी एक छोटे-से साँप के साथ खून में लथपथ निर्जीव पड़ी थी। कितने सम्मान के साथ हमने पूसी को समाधि दी थी !

फिर तो हमारे घर में कोई न कोई पूसी रखी ही जाने लगी। मुझे तो बड़े होने पर उसकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं रह गई, पर रानी की तो पूसी चिर सहचरी बन गई थी।

वह कहती, "बिल्ली के कारण ही मेरे भाई के प्राण बचे। इसलिए मुझे वह बहुत प्यारी लगती है।" मेरे लिए अथवा स्वयं के लिए, यह तो उसका जी ही जाने पर, यह सच है कि वह 'पूसी' को जी से प्यार करती है।

वह दिन भी मुझे याद है। जब नव वधू के रूप में उसकी प्रथम बिदा हो रही थी तब वह कितनी फुर्ती से लपककर बिल्ली के पास गई थी और उसे छाती से लगाकर आँखें भर लाई थी। उस समय मुझे निश्चय जान पड़ा कि शाकुन्तल नाटक में शकुन्तला का लताओं से भेंट करना, उनके लिए दुखी होना कवि-कल्पना नहीं है, वास्तविक घटना है।

और उस दिन का भी मुझे स्मरण है कि जब मैं रानी को उसकी सुसराल से घर ला रहा था। रास्ते में उसने कई बार मुझसे पूछा था, "बाबू! तू पूसी को दूध देता था न? माँ को तो ख्याल रहता ही न होगा। भूख के मारे बेचारी दुबली तो नहीं हो गई?" मैंने हँसते हुए कहा था, "तुम्हीं उसके सोच में दुबली दीखती हो। वह तो खूब मस्तंड बनी है। तुम कितनी पगली हो रानी! क्या तुम्हारे एक कटोरे भर दूध से ही उसका पेट भरता रहा है! अरे वह तो चूहे खाती है, पक्षियों को भी मारती है।"

'पूसी मस्तंड है'—यह सुनकर जहाँ रानी थोड़ी मुसकुराई, वहीं उदास भी हो गई। मुझे ऐसा लगा कि वह सुनना चाहती थी कि, "जब से तू गई है, बिल्ली ने खाना छोड़ दिया है और सूख कर काँटा हो गई है।" क्योंकि उसने तुरन्त विषय बदल दिया था।

वह क्षण भी कैसे भूलूँ जब रानी को लेकर मैं घर पहुँचा तब दरवाज़े पर पूसी को देखते ही वह चट उसके पास पहुँच गई थी ? उसे उठाकर पुचकारने लगी थी, " मेरी पूसी, कितनी दुबली है रे ! बाबू ! तू बड़ा झूठा है। बचपन की तेरी चिढ़ाने की आदत नहीं गई। ला तो रे दूध।"

बिल्ली को दुबली देखकर रानी का मुख मुकुलित हो उठा था। उसकी आँखें मोती लुटा रही थीं।

❖ ❖ ❖ ❖

सिर के पीछे दरवाज़े से आवाज़ आई, " बाबूजी, दूध " और पैताने से " म्याऊँ। " मैंने हड़बड़ा कर आँखें खोल दीं। पता ही नहीं चला कब तक मैं जागृतवस्था में और कब तक निद्रितावस्था में पूसी का स्वप्न देखता रहा क्योंकि दोनों समय मेरी आँखें बंद थीं। मैंने चारपाई से उठते ही कहा, " छुन्नू की माँ ! आज अपने नए मकान का मुहूर्त करने चलेंगे। आज सुसराल से रानी आयेगी और यह पूसी भी जो मेरे पैरों में रात भर लिपटी पड़ी रही है, हमारे साथ चलेगी।"

बदलू धोबी

सन् १९२७ की बात है। मैं हिन्दू विश्व-विद्यालय का—छात्र था। प्रल्हाद लॉज में रहता था। विश्व-विद्यालय के ५०–६० छात्रों का वह आवास था। प्रति रविवार को गधे पर गठ्ठर लादे बदलू धोबी आता, चाहे पानी प्रलय ही क्यों न मचाये, बदलू का गधा 'लॉज' के दरवाजे पर नियत समय पर पहुँच जाता। समय की पक्की पाबन्दी के कारण लोग बदलू से कपड़े धुलवाने को उत्सुक रहते पर वह ग्राहकों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में नहीं था। कहता, "माफ़ी मिले। इतना ही काम क्या कम है? आपको दूसरा लगा देंगे?" बदलू को आप कपड़ा गिनकर दीजिए पर बिना गिने लीजिए। वह एक-एक कपड़ा ला देता। हिसाब की कभी कोई झिक झिक नहीं। महीना कब पूरा होता है, इसका हिसाब भी उसके पास न रहता। आपने जब जितना पैसा दिया, सिर से लगाकर ले लिया और चल दिया। कपड़े इतने स्वच्छ धोता कि जब वह दूसरी खेप लेकर आता तब यह निर्णय करना कठिन

हो जाता कि किस कपड़े को धोने को डाला जाय ? केवल उसकी सल टूटी रहती । उसपर मैल न चढ़ पाता ।

एक दिन बदलू सदा की भाँति आया और मेरे कपड़ों को बार-बार गिनने लगा, "अरे ! इनमें तो एक ऊनी स्वेटर नहीं है—कहाँ गा ? बाबू, कपड़े देख लीन्ह जायँ । एक स्वेटर कम है । अगले इतवार को ले आऊँगा ।"

"अच्छी बात है । यह हिसाब तो लेते जाओ ।"

"नहीं फिर—अगले हफ्ते ।"

❖ ❖ ❖ ❖

अगले हफ्ते बदलू नियत समय पर आया । "बाबू, का बताई ? स्वेटर की बड़ी खोज की—नहीं मिलता ।"

"कोई बात नहीं, मिल जायगा । अच्छा, यह हिसाब तो चुकता कर लो ।"

"नहीं बाबू, स्वेटर मिल जाय देव, फिर हो जाई । कहाँ जात है ?"

वह प्रति सप्ताह आता । कपड़े ले जाता और जब हिसाब की बात उठाता, वही बात—

"कहाँ जात है ? स्वेटर मिल जाय देव ।"

चार महीने बीत गये । बदलू कपड़े ले जाता है, दे जाता है पर हिसाब लेने को तैयार नहीं ।

आज मैंने सोच लिया था कि बदलू के हाथ में ज़बरन पैसे रखूंगा और उसे लेने ही पड़ेंगे । कहूँगा—"स्वेटर गुम गया तो जाने दो । मैं तो तुम से उसके दाम वसूल नहीं करना चाहता ।'

शाम के चार बज गये। बदलू का गधा फाटक पर दिखलाई नहीं दिया। हाँ, बदलू से मिलता-जुलता आदमी एक्के से गट्ठर उतार रहा है। नम्बरवार कमरों में जा रहा है। मेरे कमरे में भी आया। कपड़े गिनकर रख लिये। मैंने कहा, 'बदलू कहाँ है ? तुम उसके कौन हो ?"

"भाई हैं।"

"और बदलू को क्या हो गया ?"

"जो सबका होता है"—कह कर वह फूट-फूटकर रोने लगा। मैंने ढाढस बँधाकर उसके हाथ में रुपये रखने चाहे। उसने हाथ पीछे कर लिए।

"भैया कह गये हैं कि लंबर तीस के बाबूजी से साल-भर तक पैसा न लेना। उनका कपड़ा हम से गुम गया है।"

मैंने उसे बहुतेरा समझाया पर बदलू का भाई टस से मस न हुआ। कहने लगा, "बाबू, हमारे खानदान में आसामी का कपड़ा गुम हो जाने पर उसका पैसा दिया जात है। खानदानी रिवाज़ छोड़कर अगर हम आप से पैसा ले लें तो भैया की आतमा हमको क्या कहेगी ?"

"लेकिन बिना पैसे कपड़े धुलवाना हमें बुरा लगता है। भाई की बात भाई के साथ गई। अब तुम नये सिरे से कपड़े धो रहे हो। तुम्हें पैसे लेने ही होंगे।"

वह नहीं माना। उसने कपड़े माँगे। मैंने नहीं दिए। दूसरे सप्ताह वह पुनः आया और सभी नंबर के बाबूओं के कमरों में कपड़े दे आया। मैंने देखा, आज उसने किसी से कपड़े नहीं लिये।

एक रविवार आया---दूसरा रविवार, तीसरा रविवार---इस प्रकार कई रविवार आये पर बदलू का गधा 'लॉज' के फाटक पर नहीं आया।

❖ ❖ ❖

मैं मन ही मन पछताया। आह! मैंने पैसे देने की क्यों ज़िद की? उसने अपने कुल की लाज के लिये 'लॉज' के कितने ग्राहक छोड़ दिए! उफ़! बदलू! तुम कितने महान थे! और तुम्हारा भाई, तुम्हारे पद-चिन्हों पर चलनेवाला तुम्हारा भाई भी कितना महान है! तुम दोनों को मेरा नमस्कार।

ये बंसी हैं

ठिगनी, थलथली लम्बोदरी आकृति, निर्मेघ नभ सा रंग, लट्ठे की दुकच्छ घुटनवाँ धोती, सिर पर मोटे कपड़े की गुंडली, उस पर लोहे का घड़ा; घड़े पर बाँया हाथ और दाँये हाथ में सिर से ऊँची लाठी– ये गमकते चले आ रहे हैं बंसी अहीर; काशी–विश्व-विद्यालय के निकटवर्ती चित्तूपुर ग्राम के रहवासी। छात्रावास का कमरा-कमरा झाँकते चलते हैं, "दूध, दूध चही बाबू ?"

यदि किसी ने कहा, "हाँ" तो चट दरवाजे पर लाठी टेक देते हैं। सिर से लोह-घट उतार, उकरू, बैठ जाते हैं। कहते हैं, "लावा [1] बर्तन।" बर्तन के आ जाने पर दूध उड़ेलने लगते हैं।

"अरे, नाप-वाप नहीं है ?"

"कितना चही [2] आपको ? पाव भर ? आधा सेर ? तीन पाव ? सेर भर ? यह लीजिये। एक बून्द भी कम पड़े तो बंसी का हाथ काट लीजिये, "बाबू ! हाथ तुला हुआ है।"

---

१. लाइए, २. चाहिए,

इस ठसक से बंसी बोलते हैं! ज़बान पर खड़ी बोली चढ़ गई है क्योंकि दिन-रात विश्व-विद्यालय के बाबुओं से साबका पड़ता रहता है।

जब दूध का घड़ा खाली हो जाता है तो ये होस्टल के हाते में लाठी टेक कर बैठ जाते हैं। 'मेस' में काम करने वाली दाइयों[1] से थोड़ी देर मुँह मारे बिना मन नहीं भरता। कभी लहर आती है तो गाने लगते हैं—

जब हम रहिलीं बारी कुआंरी,
तब ले सहलीं लारे गारी,
याद बखानी हम ओकरा के
जो बियहला पर हमारा के दे गारी।

❖ ❖ ❖

गोरिया चलेले नैहरवा बलमु अंचरा धइके रोवे।
बाग में रोवे, बगइचा में रोवे,
गूलर के पेड़ तर सुसुकि भरि रोवे,
दुअरा पर रोवे दलनिया में रोवे,
चउकी पर मुड़िया पटकि के रोवे,
खटिया के पाटी पकड़ि के रोवे।
गोरिया चलेले नैहरवा बलमु अंचरा धइके रोवे।

❖ ❖ ❖

किसी दिन जब खूब वर्षा होती है, बंसी के दर्शन नहीं होते। दूसरे दिन यदि कोई पूछ बैठता है, "क्यों बंसी, कल कहाँ रम गये थे?" तो बड़ी रंगतवाले गीत मुँह से फूट निकलते हैं—

---

१. बर्तन मलने वाली मजदूर स्त्रियाँ बनारस की ओर दाई कहलाती हैं।

"बूँदन भीजें मोरी सारी, मै कैसे आऊँ बालमा ?
एक तो मेंह झपाझप बरसे, दूजे पवन झकोर।
कैसे आऊँ साजना।"

"और सुनिए बाबू—

बरिसे लागल भगवनवा बरखा खूबे होला ना,
रात में बरिसे दिन हू में बरिसे बरिसे लगले ना,
बादल गरजे बिजुरी चमके, दम-दम दमके ना।
बरिसे लागल भगवनवा बरखा खूबे होला ना।

बाबुओं में खिलखिलाहट मच जाती, "वाह रे बंसी, तुम्हारे नाम के क्या कहने हैं ? खूब मीठा सुर निकालते हो . . . पट्ठे पूरे गुरु हो, बनारसी न ठहरे ?"

"बाबू, आपके चरनों का परसाद है," कह बंसी सिर झुकाकर दाहिने हाथ से दाद प्राप्त शायर की तरह बड़े अदब से सलाम करने लगता है।

❖ ❖ ❖

बंसी का दूध कभी गाढ़ा, कभी पतला आता है पर उसके हँसोड़ होने के कारण कोई उससे कुछ नहीं कहता। जब दो-चार दिन लगातार पतला दूध आने लगा तब मुझसे न रहा गया। पूछ ही बैठा, "बंसी, यह क्या बात है ? किसी दिन दूध पर मलाई की मोटी थर जमती है और किसी दिन पतली झिल्ली भी मुश्किल से दीखती है।"

"कोई दिन भैंस ज्यादा पानी पी लेती हुइ हैं मालिक!" कहकर बंसी हँस पड़ा।

"इस तरह की फिजूल की बातें मुझे पसंद नहीं बंसी ! क्या हम बच्चे हैं जो इस तरह समझाते हो ?"

"नहीं मालिक ! आप बड़े हैं, सयाने हैं। अकिलमंद हैं हम ही गँवार हैं। तभी न ऐसी बात करते हैं ! हमारी समझ में यही आया सो हमने कह दिया। आप विश्वास मानिये, दूध में कोई खोट नहीं है।"

"ज्यादा हुज्जत हमें पसंद नहीं। आइंदा से यदि दूध में पानी रहा तो हम नहीं लेंगे। याद रखो, पानी का पैसा पानी में ही जाता है।"

बंसी गंभीर होकर आगे बढ़ गया जैसे उसका अन्तस्तल छू गया हो। आज 'लॉज' के लान पर बिरहा की तान नहीं बिखरी, दाइयों के बीच कहकहे नहीं मचे। बारहमासी होली जैसे आज एकदम समाप्त हो गई !

दूसरे दिन बहुत देर के बाद बंसी आया। आज तो उसके चेहरे पर बेहद उदासी छाई हुई थी।

चुपचाप बर्तन में दूध डाल कर जाने लगा। मैंने रोक कर पूछा, "बंसी क्या बात है ?"

उसने अंगोछे से आँखें पोंछते हुए कहा, "मालिक, क्या कहें, लुट गये। मेहरारू के आँग पर एक्कौ जेवर नहीं बचा। पुलिस में रपट लिखाई है। चोरी पकड़ जाई न बाबू ? आप काल्ह ठीक कहे थे......"

मुझे मन ही मन बड़ा अफसोस हुआ। कल ही मैंने उससे कहा था— "पानी का दूध पानी हो जाता है।" कहाँ से यह

अशुभ वाचा फूटी ! भगवान, उसका धन मिल जाये । मैंने उससे कहा, " बंसी, तुम अपना हृदय साफ करो । शुद्ध धंधा करो । भगवान चाहेगा तो तुम्हारा चोरी का माल तुम्हें मिल जाएगा । " बंसी कुछ नहीं बोला । धीरे से कमरे के बाहर हो गया ।

❖ ❖ ❖

तीसरे दिन बड़े सबेरे आया । जल्दी-जल्दी हाँफता सा पुकारने लगा, " बाबू दूध लीजिये, बाबू दूध लीजिये, खोलिये दरवाजा । " मैंने दरवाजा खोला । वह एक दम मेरे पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा, "बाबू भगवान ने बिनती सुन ली । चोर पकड़ा गया । माल भी बरामद हो गया । अब से बंसी के दूध में पानी नहीं पड़ेगा । " बंसी की आँखों में पानी था ।

❖ ❖ ❖

बंसी की प्रल्हाद–लॉज छात्रावास में शुद्ध दूध देने की शोहरत है । उसका मनुष्य और भगवान में इतना दृढ़ विश्वास हो गया है कि वह कभी किसी से हिसाब नहीं माँगता । ग्राहक जो दे देता है वही उसे स्वीकार्य है । एक दिन मैंने पूछा, " बंसी तुम हिसाब क्यों नहीं रखते ? कुछ बाबू ऐसे जरूर होंगे जो तुम्हें घाटे में रखते होंगे । "

अडिग श्रद्धा के साथ उसने उत्तर दिया, " मालिक ! उसके यहाँ देर है, पर अन्धेर नहीं । अगर पानी का पैसा पानी हो सकता था तो बेईमान बाबुओं की पढ़ाई पर भी तो पानी फिर सकता है । "

❖ ❖ ❖

तीस वर्ष बाद विश्व-विद्यालय के मेरे एक साथी प्रोफेसर ने लिखा, "बंसी अभी भी जीवित है। सिर पर वही दूध का घड़ा, हाथ में वही लाठी पर मुख में वह बिरहा और कजली नहीं है, राम राम, शिव शिव है। गाँव में वह बंसी अहीर नहीं, बंसी भगत कहलाता है।"

इला

बीहड़वन; दिन में ही रात के चिराग़ जले, इतना अँधेरा; अलकों में कहीं कहीं दीख पड़नेवाले इक्के-दुक्के सफेद बालों के समान झलक भरी पगडंडियाँ; बीच में पथरीली जमीन,——उसपर एक मंदिर; वह आसमान से तो नहीं अतीत से ही बातें करता जान पड़ता था। उसकी छिन्न-भिन्न ध्वजा उसकी उसासों का प्रतीक प्रतीत होती थी। उसमें एक 'मूर्ति' थी, जो दाएँ से देखनें पर सोने की तरह और बाएँ से लोहे की समझ पड़ती थी। ऊपर से शुष्क, परन्तु अवशिष्ट विवरों के भीतर से झाँकने पर उसमें तरलता-लहराती सी थी। इस आश्चर्यमयी मूर्ति की ख्याति कभी-कभी व्यक्तियों को उसके पास खींच लाती थी।

इला आज अपनी ही साँसों पर अविश्वास कर अनमनी हो रही है। जी रह-रह कर भर आता है। ज्ञात-अज्ञात का अभाव उसे अभिभूत किए हुए हैं। उसे केवल रोना आता है। वह हँसकर भी आँखों से आँसू ही बहाती है। एक दिन संध्या

समय यात्रियों की एक टोली उसकी झोपड़ी के पास रैन बसेरा लेने को रुकी। रात को उसने सुना:—

एक—"वह मूर्ति सचमुच बड़ी विचित्र है। हमें उसका गर्व है।"

दूसरा—"उसकी भाव-भंगी दर्शनीय है।"

तीसरा—"बोलती नहीं, पर न जाने क्यों, हम उसे देखकर ही ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि उसे अपने से बातें करते हुए अनुभव करने लगते हैं।"

चौथा—"आँखों में कितनी सरलता है, कितना अपनाव है!"

"क्या कहा? अपनाव है।"—इला मन-ही-मन गुनगुना उठी।

❖ ❖ ❖ ❖

सूरज की किरणों में इला ने अपना दिन देखा। वह चौंक, मुसकुराई और उठ खड़ी हुई। अँधियारे वन की पगडंडियों पर उस समय दिखलाई दी, जब सूरजमुखी मुरझा रही थी। पर इला खिली जा रही थी। सोचती थी—आज मेरे उनींदे भाग जाग उठे, उनके दर्शन करूँगी; नवीन स्वप्नों की सृष्टि करूँगी।"

वह चली जा रही थी। अबाधित रूप से मंदिर में प्रविष्ट हुई। उसने मूर्ति को दाएँ से देखा और वह पुलक से भर गई। उसने आँखें मूँद लीं, 'मेरे देव, मैं तेरे आँगन में रहकर भी क्यों न आज तक देहरी तक पहुँच पाई?—किसने मेरे पगों में

लाज भर भर मेरे यौवन का उपहास किया ? मानोगे ? तुम स्वर्ग हो, साध हो; साधना हो। बोलो,---मेरे हृदय की ग्रंथि खोलोगे---ठीक उसी तरह जब गो-धूलि-वेला में आम्र-पत्तियों से आच्छादित लता-मंडप के नीचे नतवदनी तरुणी की कलाई का कंकण छोड़ने के लिए किसी के विकम्पित कर बढ़ते हैं। अरे, मैं क्यों दूरी अनुभव कर रही हूँ ? अच्छा मेरा यह समर्पण अतीत जीवन की विडम्बना है---आतुरता की उसासों में प्राणों की ठेस नहीं, अभ्यास की क्रीड़ा है ?.... नहीं-नहीं। ऐसा न कहो। मैं मर जाऊँगी। मेरा केन्द्र मेरी आँखों की परिधि से दूर न बनाओ। मैं भटकना नहीं चाहती। मुझे बुला लो, बाँध लो। मैं खुशी खुशी कैद होने आई हूँ। आश्वासन पर तुलने के लिए किन बाँटों को बटोरूँ ? बोलो, एक बार ही सही। यह नीरवता अखर रही है; छिद रही है। किससे पूछूँ ?"

मूर्ति जरा हिली। इला भी हिली। वह मूर्ति को बहुत बारीकी से देखने लगी। उसकी नज़र जब बाएँ बाजू पर पड़ी तो वह चौंक उठी। वह चीख़ पड़ी, 'नेत्रों ! क्या देखते हो ? हृदय, क्यों सिहरते हो ? अरे, यह तो वह नहीं है, जिसके लिए तुम आँखों से बह जाने के लिये रह-रह काँप उठते थे। भ्रम है, छल है, पाखंड है। क्यों मैंने अपना सब कुछ इसके आगे उँडेलना चाहा ? मेरी गगनचुम्बी अट्टालिका किस भूकम्प से आहत हो जमीन चूमने लगी ? मेरे विवेक, तुम कहाँ सो गए ? इस मूर्ति के सामने तो मैं क्षण भर भी नहीं ठहर सकती ! साँस रुँधती है।"

मूर्ति ने अट्टहास किया, पर इला के कान बहुत दूर थे।

❖ ❖ ❖ ❖

सबेरा हो गया था। पक्षी आँखें खोलकर उड़ना चाहते थे। एक नया मूर्ति-दर्शनार्थी पथिक मंदिर के निकट दिखाई दिया। उसके साथ एक किशोरी भी थी। साथी, कह रहे थे, "तू यहीं रह, मंदिर में जाकर क्या करेगी? मूर्ति को देखने की रस्म पूरी कर हम अभी लौटते हैं।'

'मुझे रस्म पूरी नहीं करना हैं, मुझे उसे जी भर देखना है।'

'उसे लोग केवल देखने के लिए नहीं जाते। वे तो किसी कामना को आँखों में बाँधकर पहुँचते हैं। यदि कामना की पूर्ति मूर्ति से होती है, तो कभी कभी वे उलटकर उसके दर्शन फिर कर जाते हैं, अन्यथा उस पर गालियाँ बरसा कर, उसे कोस कर, चले जाते हैं।'

'मैं उसे एक बार देखना भर चाहती हूँ। मुझे उसका आशीर्वाद नहीं चाहिए।'

किशोरी मूर्ति को बाईं ओर से देख रही है, 'अरे कितनी अच्छी लगती है यह तो?'

'पगली कहीं की। जरा इधर से आकर तो देख।' दाईं ओर खड़े बूढ़े ने कहा।

दौड़कर वह उस ओर जाती है। कहती है, "यहाँ से भी अच्छी लगती है।" और फिर दौड़कर बाईं ओर चली जाती है—'मुझे तो यह सब तरफ से अच्छी लगती है।' उसने आँखें

बन्द कर लीं, दोनों हाथ जोड़ लिए; भाल से लगा लिए और न जाने मन ही मन क्या गुनगुनाने लगी ?

दर्शक सहसा देखते हैं—मूर्ति धुएँ से आच्छादित होगई, क्रमशः एक ज्योतिर्मय आकृति उसकी ओर बढ़ती जा रही है। यह क्या ? मूर्ति सप्राण बन गई है ! उसमें यौवन सँवर आया है। दोनों एक दूसरे को देखते हैं; दोनों आँखों से बोलते हैं। धीरे-धीरे दो के स्थान पर एक ही आकृति दीख पड़ती है। कुहासा दूर हो जाता है। पूर्व स्थिति आ जाती है।

अब जब दाईं ओर से कोई उस मूर्ति को देखता है, तो पुरुष विहँस उठता है और बाईं ओर से देखने पर नत दृष्टि प्रकृति–नारी मुस्कराती हुई सहम उठती है।

❖ ❖ ❖ ❖

कई दिनों बाद इला मंदिर की सीढ़ी पर बैठी है। संध्या की अंजन-रेखा उसकी आँखों में नहीं खिचती, उषा की व्रीड़ा उसके कपोलों का अनुसरण नहीं करती। वह चकराई सी, पथराई सी बैठी है। रोना चाहती है, रो नहीं सकती, कहना चाहती है, कह नहीं सकती। एकाएक बल संचित कर वह बड़बड़ा उठी, 'तू राक्षस है, पापी है, अन्यायी है...... नहीं नहीं, तू यह सब कुछ नहीं है ! मैंने ही तेरा तिरस्कार किया था...... पर तू क्यों आँखों में आकर चट ही उचट गया था ? मेरे प्रमाद को तेरे सिवा और कौन बता सकता है ? मेरी स्वाधीनता मुझे काटने लगी थी। मैं बेदामों ही किसी के हाथों बिक जाना चाहती थी। कितनी आशाएँ, कितने स्वर्ग,

लेकर मैं तुझ तक आई !...... तूने मुझे अपना असुन्दर रूप क्यों दिखाया ?'

'गर्वमयी ! अपने हृदय को टटोल। क्या तू सचमुच मेरे लिए आई थी ? यदि हाँ, तो हर बाजू से तुझे तेरी चीज़ क्यों न दीख पड़ी ? बुद्धि की आँखों से हृदय नहीं देखा जाता। मुझमें पूर्णता देखना चाहती थी अपनी अधखुली अधूरी आँखों से ? पूर्णता किसी वस्तु में नहीं, दृष्टा की आँखों में होती है। यह जो मेरा अंग बन गई है, मेरे लिए, केवल मेरे लिए— आई थी इसीलिए मैं हर दिशा से उसकी चीज़ दीख पड़ी।'

इला ने यह सुना और उसकी आँखें आसमान पर जम गईं।

थर्ड क्लास का डिब्बा

सन १९५०। हैद्राबाद का स्टेशन। साँझ का समय। दिल्ली की गाड़ी की प्रतीक्षा। प्लेटफार्म, गाड़ी में बैठने और बैठालने वालों की हलचलों से आपूर। आवाजें आ रही हैं—"दिल्ली का डिब्बा काँ खड़ा होता हय?" "कौनसा? सिकंड?" "फस्स?" "नहीं, थड्ड?" "और मदरासवाला किधर?" "आगे बढ़ो?" "हटो यार।" "भाई जान, आप कहाँ तशरीफ़ ले जा रहे हैं?" "यूं ही ज़रा नागपुर"—"मैं भी तो वहीं जा रहा हूँ। ठीक रहा। हम लोग साथ ही चलेंगे।" .... "देखो, सिंगल हो गया—घंटी भी तो बज रही है—वो क्या, गाड़ी आ रही है—अरे, कुली किधर गया? ओ—कुली—कुली" "आया साब...." "देखो, अच्छी जगह बैठाना"—"साब कलदार लूँगा"—"नहीं बे हाली[1] तय हुआ है—तो आप दूसरा कुली कर लें।" .... धड़ धड़

---

१ निजामशाही युग में चलनेवाला सिक्का, जो भारत में चलनेवाले रुपये से कुछ कम होता था। हैद्राबाद के बाहर भारत में चलनेवाला सिक्का कलदार कहलाता था।

घड गाड़ी प्लेटफार्म पर आ गई। धीरे धीरे खड़ी हो रही है–लोग इधर-उधर दौड़कर डिब्बों पर टूटे जा रहे हैं। मैंने पहिले से ही कुली को कलदार का लालच दे रखा था। वह गाड़ी के रुकते-न रुकते डिब्बे में दरवाजे से भिड़ी भीड़ को चीरता हुआ धँस पड़ा। "क्या गँवार है? क्यों चपेटे डाल रहा है? ...." "तोबा तोबा .... या अल्ला" .... "राम-राम" .... "काय गर्दी[२] आहे बुवा", "Oh! terriblo"[३] "क्या खड़े हैं! बाबू साब, आइए खिड़की में से। "देखो गबदू," कुली अपने साथी से कह रहा है। "ज़रा साहब को उठाकर भीतर खिड़की में कर तो ...."

मैं पोटली की तरह खिड़की में से भीतर फेंक दिया गया। भीतर के कुली ने बड़ी फुर्ती से सँभाल लिया। .... बेंच पर रखी ट्रंक पर ही आसीन हो गया। बिस्तर नीचे सबकी चरणरज लेने को पड़ा हुआ है। उसके लिए वही स्थान है। "कहिए साब! जगह दिलाई न आपको" –

"पेटी पर कब तक चढ़ा रहूँगा? ज़रा नीचे रख न भाई!"

"कहाँ जगो है सरकार?"

"अच्छा, ले रुपया ...."

"और इनाम सरकार?"

"जो तय हुआ था दे दिया। इनाम-विनाम कुछ नहीं भागो—"

---

२ क्या भीड़ है?

३ भयानक है।

"दो आने चाय पीने कू।"

"नहीं नहीं, एक कौड़ी ज़्यादा नहीं . . . ."

"मर्जी हुजूर की।"

आगे एक साहब बच्चे को गोद में लिए खड़े हैं, मेरे बिस्तर को रौंदते हुए। दाहिनी ओर एक बूढ़े रह रह कर खाँस उठते हैं। बाईं ओर एक सर मुड़े संन्यासी-से जान पड़ते हैं। ऊपर बेंच पर दो नौजवान परस्पर सिर भिड़ाए घुटने मोड़कर लेटे हुए हैं, लकड़ी की बेंच पर अँगोछा डाले हुए। जो बेंचें यात्रियों के सामान से भरी हुई होनी चाहिए वे आदमियों से लदी हुई हैं। चालीस की जगह डिब्बे के एक कोने में अंकित है पर संख्या दुगुनी से कम नहीं। मेरे सामने की बेंच पर स्त्री, पुरुष, बच्चे सीधे, उकरू, दबे चिपके बैठे हैं और बेंचों के बीच के आने-जाने के रास्ते में भी दरवाज़े तक लोग खड़े हुए हैं। बड़ी हैरानी है।

गार्ड ने सीटी बजा दी उसके हाथ की हरी झंडी फहराने लगी। प्लेट फार्म के बाहर और गाड़ी के भीतर से आवाजें आ रही हैं,– "पान, बीड़ी, माचिस सिगरेट" "जल्दी कैंची छाप सिगरेट देना–देख, गाड़ी छूट रही है।" "पैसे लाव साब" "छुट्टे नहीं हैं ?" "करिमुद्दीन साहब ! बदरूद्दीन साहब को मेरा आदाबर्ज़ कहिए। अल्ला-ताला ने चाहा तो ईद नागपुर की ही होगी" ". . . भैया रमेसुर, सब का राम राम कह्यो। कन्हई कक्का का, बिसनू मामा का–हर गोपाल साव का, छिद्दी चमार दादा का। पहुँचतै चिट्ठी डार्‌यो, औ सुनौ, भौजी का लेत आयौ–हम कौनौ कोठरी का इन्तजाम कै राखब . . . भला . . ."

"हल्कू ! बऊ हे सोई लेत अइए अबकी बिरिया।"

"हलो मिस्टर मूर्ती, बाय बाय–"

"पत्र मात्र पाठवा . . . बाबा साहेबला सांगा काळजी करूं नका . . ." [1]

गाड़ी धीरे-धीरे . . . जल्दी-जल्दी प्लेटफार्म पार कर गई। लोग आपस में एक दूसरे से स्थान की आशा से पूछताछ कर रहे हैं, "कहाँ जाइएगा ?, भोपाल, और आप ? बस, जरा आगे झाँसी–और श्रीमान ? हरिद्वार–और बाई साहब ?–दिल्ली। नजदीक उतरनेवाला कोई नहीं, तो रात भर ऐसे ही बैठे रहना होगा। इसी बीच उधर झगड़ा हो रहा है, "उठिए साहब, लोग परेशान हो रहे हैं ! खड़े होने की जगह नहीं है और आप पूरी बेंच पर चित्त पड़े हुए हैं। यह भी कोई भलमनसाहत है ? आराम चाहिए था तो फर्स्टक्लास में चढ़ते।"

"देखो, बकबक मत करो। चार दिन से सफर कर रहे हैं। डिब्बे में पहिले मैं घुसा था। जगह मिली है तो सोए हुए हैं।"

"आए कहीं के नबाबजादे ! सीधी तरह से कह रहा हूँ। बैठने को जगह दो।

"अच्छा नहीं देते–क्या करेंगे आप ?

"आपको उठा देंगे जनाब ! बहुत हुज्जत रहने दीजिए।

"अच्छा ले बाबा, बैठ।"

---

1 पत्र भेजिए–बाबा साहब से कहना कि चिन्ता न करें।

" जरा थोड़ी सी जगह बाई साहब आप भी, . . . जनाना है, बैठ जायगी । "

" फर्श पर बैठ जाइए । बच्चे को टाँगे कहाँ तक खड़े रहेंगे । "

लोगों ने धीरे-धीरे थोड़ी बहुत जगह बना ली । गाड़ी रुकती–छूटती चली जा रही है । जहाँ रुकती है, यात्रियों की टोली दरवाज़े पर टूट पड़ती है, " खोलो–खोलो " " बाहर से चिल्लाहट मचती है । " रिजर्व है " भीतर से आवाज़ निकलती है । दरवाज़े की चिटकनी लगा दी गई है । बेचारे दूसरे डिब्बे की खोज में भागे जा रहे हैं । रेल की यात्रा में एक अजीब मनोवृत्ति काम करती है । जब हम बाहर प्लेटफार्म पर स्थान की खोज में डिब्बा-डिब्बा झाँकते हैं तब चाहते हैं, किसी भी डिब्बे में एक कोना ही मिल जाता तो अच्छा होता और जो लोग डिब्बे के भीतर से कहते हैं, " रिजर्व है, जगह नहीं है– क्या सर पर बैठोगे ?" उन पर बड़ा क्रोध आता है । मन ही मन झुँझलाहट होती है, लोग बड़े स्वार्थी होते हैं । एक दूसरे की सहायता नहीं करते । जरा सी जगह दे देने में इनका क्या बिगड़ा जाता है ? परन्तु ज्यों ही हम डिब्बे के भीतर पहुँच जाते हैं तो हमारी वही मनोवृत्ति हो जाती है जो डिब्बे में आराम से बैठनेवालों की होती है। हम भी, जब कोई दूसरा यात्री दरवाज़े के पास रुकता है तो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसे द्वार पर आए हुए किसी भिखारी को देख कर– " आगे जाओ–आगे बढ़ो । " जब वह चला जाता है तो बड़ी

प्रसन्नता अनुभव करते हैं। परन्तु यदि कोई यात्री किसी प्रकार भीतर आ ही जाता है तो हम पूरी बेंच पर पैर फैलाकर लेटते हैं और आँखें मूँदे मूँदे उस अभागे को घंटों खड़े देखते रहते रहते हैं। हम में ऐसे बहुत कम होते हैं जो उससे कहें, 'आओ, तुम भी बैठ जाओ।' महिलाओं के प्रति शुद्ध सम्मान की भावना भी थर्ड क्लास के यात्रियों में कम ही देखी जाती है।

तो—हमारी गाड़ी चली जा रही है। मैंने अपने पास के खाँसनेवाले वृद्ध सज्जन से प्रार्थना की, "यदि आप थोड़ा ऊपर सरक जायें तो मैं अपनी पेटी नीचे उतार कर रख दूं जिससे हम दोनों को बैठने में आसानी हो जाय।" वे मान गए पर नीचे बैठनेवाले ने कहा, "कहाँ रखोगे? बेंच के नीचे भी तो सामान और आदमी लुढ़के पड़े हैं।" मैंने कहा, "आप फर्श पर न बैठकर इसी पर बैठिए न।" वे राजी हो गए। पेटी नीचे उतर गई। मैं पालथी मारकर बैठ गया जिससे पेटी के बराबर का स्थान कम न होने पाए। वाह री भावना!

रात बीतने लगी। नींद पलकों पर मँडराने लगी। मेरे पड़ौसी वृद्ध सज्जन की खाँसी बार बार उसे भगाने का यत्न करती पर वह निगोड़ी कब मानने चली! झोंका खाने लगा, कभी दाएँ कभी बाएँ। जब दाएँ गिरता तो सुनता, "सीधे होओ न" जब बाएँ गिरता तो सुनता, "क्यों बूढ़े को रगेड़े डालते हो बाबू?"

"माफ कीजिए" कहता जाता और सँभलता तथा गफलत करता जाता। जब आँखें खुलती तो चारों ओर यह दृश्य दिखाई

देता—कोई किसी के चरण पर माथा टेके हुए है, कोई किसी के अंक को परिधान बनाए हुए है, कोई किसी के कंधे पर शिर टेके हुए है, कहीं दो सिर रह रहकर टकरा रहे हैं। निद्रावस्था में लोग बदज़बानी करते जरूर हैं पर कोई बुरा नहीं मानता, अपराधी की तरह नतमस्तक हो जाता है। इस गुनहखाने में बेचारी महिलाओं को भी संकोच-मर्यादा की सीमा लाँघने को विवश होना पड़ता है। नींद के मीठे नशे में समाज और प्रकृति के वर्ग-भेद का भान बहुधा नहीं रह जाता।"

"बल्लारशा, बल्लारशा, चाय चाय," का स्वर प्लेट-फार्म पर गूँजने लगा।"

चलो, सबेरा हो रहा है। डिब्बे में से "एक कोप इधर भी," की आवाजें निकलने लगीं। राम-राम करके रात तो कट गई। प्रातःकर्म के लिए बेंच पर से नीचे पैर रखने की कोशिश की। देखा, लोग महायुद्ध में आहत की भाँति धराशायी हैं, उन्हें बचा बचाकर कदम बढ़ाना तलवार की धार पर चलना ही है। "अरे बापरे दम गया रे" "भैया, माफ करना—क्या बताएँ? स्वराज्य होने पर भी गाड़ी में आराम न मिला।"

"कंपनी पर नालिश करो बाबू, पैसा लेती है और मुसाफिरों को आराम नहीं देती।"

"कम्पनी कम्पनी कहाँ रही? अब तो गाड़ी भी सरकारी है। कौन सुनता है? नालिश किसकी करोगे। सरकार ही मुलजिम और सरकार ही काजी।" "खूब कहा यार।"

"एक बीड़ी देना भाईजान।"

"देखना भैया, दियासलाई की आगी नीचे न गिर पड़े।"

"सँभल के पीओ। धुएँ से तबीयत घबड़ाती है।" "ऐसे नाजुक मिजाज थे तो फस्स गिलास में सफर करते .... हा ... हा, हा ...." मुसाफिर आपस में कह-सुन रहे हैं। मैं धीरे-धीरे कदम बढ़ाता हुआ 'संडास' के निकट पहुँच गया। वहाँ उससे टिके एक सेठ साहब ऊंघ रहे थे। "सेठजी! ज़रा दरवाजा खोलने दीजिए?" "आओ शाब" कहकर बेचारे हट गए। दरवाजा खोलकर ज्योंही अंदर पहुँचा, दुर्गन्ध के मारे नाक फटने लगी। सर चकराने लगा .... उफ्, गंदगी का क्या कहना? पानी के नल को खोलने की कोशिश की। पानी नदारत। बाहर प्लेटफार्म पर झाँका। टिकिट कलेक्टर साहब दिखाई दिए,— "साहब! संडास में बड़ी गंदगी है। कोई जमादार-वमादार हो तो भिजवाइए और पानी भी उसमें नहीं है।" "पानी तो यहाँ नहीं भरा जा सकता। जमादार शायद फर्स्ट या सेकंड क्लास कम्पार्टमेंट में सफाई कर रहा होगा।" कहते हुए बाबू साहब आगे बढ़ गए। फिर गया। परन्तु अंदर कहीं वमन न हो जाय, इस भय से बाहर निकल आया दरवाजे को ज्योंही खोला, एक सज्जन कान में, चाबी बँधा हुआ, जनेऊ चढ़ाए धँसने लगे।" मैंने कहा, 'पंडितजी पानी नहीं है।" "आप निकलिए तो साहब! यहाँ तो आफत हुई जा रही है। मानस-प्रक्षालन से काम चला लेंगे। शास्त्र विहित है। आपद् धर्म है। इस समय आचार नहीं देखा जाता।"

पूर्व की तरह सँभल सँभल कर पग धरता हुआ अपने

स्थान पर आ बैठा। पास के वृद्ध सज्जन दमे के रोगी थे। खाँसते और खिड़की से बारबार बलगम थूकते जाते। जिसके कण हवा के झोकों से डिब्बे में निखर बिखर उठते। उधर कोने में एक देवी अपने शिशु को समाचार-पत्र के एक टुकड़े में दीर्घशंका से निवृत्त कराकर कागज पकड़े खड़ी हैं कि संडास का दरवाज़ा खुले और वे वहाँ जाएँ। भीतर पंडितजी को बहुत विलंम्ब हो गया था। पास वाले फवतियाँ कसने लगे, "क्या मानस स्नान के पश्चात् संध्या-प्राणायाम तो नहीं होने लगा?" "निकरो न देवता, हम हूका असनान-हजा करे देव।" लोगों की छेड़छाड़ और दरवाजे पर दस्तक देने में बावजूद भी जब पंडितजी की वहिर्गति ने हुई तब देवी जी से न रहा गया। उन्होंने निकटवर्ती खिड़की से ही कागज खिसकाने का उपक्रम किया। मैं कहने ही वाला था कि, "बहनजी जरा हाथ नीचे करके" पर उन्होंने कागज झट हवा में उड़ा ही तो दिया। उसके तरल कणों ने डिब्बे क्या तहलका मचाया, इसकी कल्पना ही की जा सकती है—हम सबने मुँह पर कपड़ा लगा लिया, किसीने रूमाल, किसी ने धोती का छोर और किसी कुर्ते को बाँह और इधर-उधर से 'चें चें' सुनाई देने लगी—

"बाई, जरा सँभाल के तो फेंकना था"...

"तोबा-तोबा लोग कितने बेशऊर हैं—न जाने कब सफाई सीखेंगे?"

"लोग औरतों को जनाने डिब्बे में क्यों नहीं बैठालते?"

"क्यों नाराज होते हो! तुम्हारे भी तो लड़के-बच्चे होंगे। किसी के सिर पर थोड़े ही...?"

सिर पर ह . . . ने की बात नहीं बहिनजी, थोड़ा खयाल करना पड़ता है, दूसरों का भी।" "जाने भी दो यार . . . गलती हो गई बेचारी से, खुद ही शर्मिन्दा है।"

❖ ❖ ❖ ❖
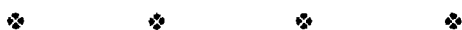
दरवाजे और खिड़कियों के बाहर मुँह निकाले हुए कुछ व्यक्ति नीम और बबूल की दातून कर रहे हैं। मुख की लार होठों के नीचे बहती जा रही है। बाहर रह-रह कर "थू थू" करते जा रहे हैं। पड़ौस के संन्यासी जी होठों में बुदबुदा रहे हैं . . . "हरे राम, हरे राम, राम नाम हरे हरे . . . . . . हरे राम . . ." और जोर से, "बाबू ! पानी का प्रबन्ध नहीं हो सकता क्या ?" फिर, "हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे—हरे राम, हरे रामा हरे हरे"

"हाँ तो . . . . . . बाबू ! शरीर कब तक मलपान करता रहेगा ?"

"महाराज ! अब तो नागपुर तक संयम साधना ही पड़ेगा, आज्ञा हो तो किसी की सुराही से पानी माँग लूँ ?"

"अभी उषःपान करना है, परन्तु उनकी सुराही का पानी तो जूठा होगा बाबू। यहाँ के लोग जिस गिलास से पानी पीते हैं, उसी को सुराही पर ढाँक देते हैं। शिव ! शिव ! यात्रा में महा कष्ट होता है।"

"यह थर्ड क्लास है बाबाजी। यहाँ विद्वान, मूर्ख, धनी, गरीब, महात्मा, दुरात्मा कोई भी बैठा हो, थर्ड क्लास ही समझा जाता है। सच्चा साम्यवाद यहीं है।"

" बाबू । हमें चाहे जिस क्लास का समझो परंतु जनता तो हम ही हैं न ? "

" जनता नहीं बाबाजी, जनता–जनार्दन । " एक महाशय बीच ही में बोल उठे ।

" पर भाई साहब ! जनता, जनार्दन तब बनती है जब असेम्बली और पार्लियामेंट के चुनाव की तैयारी होती है—रिजल्ट हो जाने के बाद 'पुनर्मूषको भव'–वही अपढ़, गँवार जनता हो जाती है । . . . . . . गरज परे कछु और है, गरज सरे कछु और " महाशयों की व्याख्या चल ही रही थी कि गाड़ी नागपुर के प्लेटफार्म पर खड़ी हो गई और यात्रियों का झुंड भेड़ की तरह डिब्बे में धँसने लगा । चढ़ने वाले उतरने वालों की छाती पर ट्रंक, बिस्तरे रगड़ते बढ़े आ रहे हैं । " उतरने दो भाई, चढ़ने दो भाई " की धकापेली में मैं बड़ी कठिनाई से नीचे उतर सका । सामने ही मित्र चंद्रकान्त दिखाई पड़े । बोले, " क्यों गांधी-क्लास में ? "

" जी नहीं, नरक . . . क्लास में । "

तेजस्विनी

नागपुर। मेडीकल कॉलेज अस्पताल। वार्ड नंबर पाँच। कमरा नम्बर तीन। बाहर तख्ती लगी है, 'भीतर प्रवेश निषिद्ध है। रोगी को विश्राम की आवश्यकता है।' पर यह निषेधाज्ञा प्राथमिक शाला के गुरू की दृष्टि की भाँति कठोर होते हुए भी उसी के हृदय सी तरल भी है क्योंकि कमरे में संसार-चक्र की तरह स्त्री-पुरुषों का आवागमन होता रहता है। अस्पताल का नियम है, 'रोगियों से मिलने का समय दोपहर तीन बजे से छः बजे संध्या तक' पर मिलने वालों को कौन रोक पाता है? कौन रोक पाया है? घड़ी का काँटा तीन के अंक तक पहुँचे न पहुँचे, मिलनेवाले कमरे के द्वार पर पहुँच ही जाते हैं। यदि वहाँ नर्स हुई तो हथेली उठाकर कहती है, 'ज़रा ठहरिए' और उसी क्षण रोगी की आवाज़ आती है, 'आने दीजिए। आइए ना।' वे भी भीतर पहुँच जाते हैं। जब घड़ी का काँटा छः के अंक को छूकर भागने लगता है और हड़बड़ाई सी नर्स बोल उठती है, 'समय हो गया' तब रोगी के कंठ से

करुण मनुहार निकलने लगती है, 'सिस्टर, थोड़ा और बैठने दो ना....।'

डाक्टर का विश्वास है कि रोगी को जितना ही भीड़ से बचाकर एकान्त में रखा जायगा उतना ही वह शक्ति संचय कर शीघ्र स्वस्थ हो जायगा। परन्तु रोगी का मन भीड़ चाहता है। यदि कोई उसके निकट नहीं जाता तो उसे उदासी आ घेरती है। उसे जान पड़ता है जैसे संसार में उसकी चाह ही नहीं है। परन्तु ज्यों ही उसके पास परिचित-अपरिचितों का आना-जाना प्रारम्भ हो जाता है, उसे अपने जीवन का महत्व अनुभव होने लगता है। उसकी आँखों में उल्लास खेलने लगता है। होठों पर हँसी बिखर-बिखर जाती है। आगन्तुकों के जाने के पश्चात् वह 'नर्स' से कहता है, 'देखा न सिस्टर, लोग बहुत तंग करते है' पर यह जिह्वा के उद्गार हैं, हृदय के नहीं। इसे नर्स भी समझती है!

एकान्त के विषाद और भीड़ के उल्लास—इन दो में कौन स्वास्थ्यवर्धक है? इसका निर्णय डाक्टर पर ही छोड़ना होगा। रोगी की दुनिया का वही अधिपति है, जज है। उसके शब्द ब्रह्म-वाक्य हैं, ध्रुव सदृश्य अटल हैं। उसका उल्लंघन चक्रवर्ती सम्राट भी नहीं करना चाहता! बेचारे "ले मैन" के मत का क्या मूल्य?

❖ ❖ ❖

हाँ तो, प्रवेश-पट्टिका के निषेध के बावजूद भी हम इसलिए भीतर चले गए कि वहाँ लोग बिना शिष्टाचार के आ-जा रहे थे।

कमरा अनुमानतः दस फुट चौड़ा और पन्द्रह फुट लम्बा है। सामने बन्द जँगले के सहारे जहाँ दो तस्वीरें रखी हुई हैं, एक तरुण की, दूसरी असि-धारिणी तरुणी की जिस पर फूलों की माला चढ़ी हुई है, जो मुरझाए से जान पड़ते हैं। दरवाजे के दोनों ओर दो लोहे की खाटें पड़ी हुई हैं। मध्य मार्ग में दो आराम कुर्सियाँ हैं और सामने एक छोटी टेबल है, जिसपर नारंगी और केले रखे हुए हैं। उसी की निकटवर्ती खाट पर एक रोगिणी पड़ी हुई है। उसका शरीर दुहरा है। रंग साँवला है। आँखें बड़ी हैं। नाक में सोने की लौंग है। भौंहों के मध्य न काँच की टिकली है, न सेन्दुर की लाल बिन्दी। इसी तरह माँग भी कंचन-रेखा से रिक्त, पर मुख-मंडल तेज से आपूर है। गले तक कम्बल ओढ़े हुए है पर हाथ बाहर निकले हुए हैं। दाहिने हाथ के कंधे का निचला भाग पट्टियों से बँधा हुआ है।

❖ ❖ ❖

'बैठ जाओ दादा ! बड़ी किरपा करी आपने।'

'देश के लिए तुम हथेली पर जान लेकर कूद पड़ीं। अंगारों की वर्षा में तुमने अपने को झोंक दिया। सबसे गौरव-पूर्ण बात तो यह थी कि तुमने अपने झंडे की आन रक्खी। उसे झुकने नहीं दिया, गिरने नहीं दिया। तुमने मध्य प्रदेश का मस्तक ऊँचा किया।"

"हमने कछू नई करो दद्दा ! अपने नेता तो सिकाउत हुतै कि देस पर मरना चाहिए। झंडे की शान रखना चाहिए। जई सीख तो मानीं मैंने। पुर्तगालवालों ने जब एक सत्याग्रही

को जो तिरंगा लिए जा रहा था गोली से गिरा दिया और झंडा गिरने लगा तो मुझ से नहीं रहा गया। मैंने झपटकर झंडा थाम लिया। पुर्तगाली सिपाहियों ने गोली पर गोली दागना शुरू कर दिया। एक गोली आकर मेरी जाँघ में और दूसरी जा हाथ में लगी। मैं मछली सी तड़फ कर गिर पड़ी। होश रहते झंडा नहीं गिरने दिया।"

कहते कहते उसकी आँखें भर आईं।

मेरी दृष्टि जंगले के चित्रों की ओर रह रह कर जाती देखकर वह बोली, "बे झांसी की रानी लक्ष्मीबाई हैं। पूना की सभा में स्त्रियों ने भेंट दई थी।"

"इन्हीं के बारे में जबलपुर की सुभद्रा कुमारी चौहान ने कविता लिखी थी, 'खूब लड़ी मरदानी वह तो, झांसीवाली रानी थी।" मेरे एक साथी बोल उठे।

"हाँ, हाँ, जई तो"

❖ ❖ ❖

पन्द्रह अगस्त का वह दिन। वरुण देवता पानी की वर्षा कर रहे थे। भारत का तारुण्य गोवा को अपना अविभाज्य अंग मान कर उसकी सीमा को लांघने के लिए बेचैन हो रहा था। उस पार यमराज के दूतों के सदृश्य हिंस्र पुर्तगाली, तरुणों की ओर घूर रहे थे। नेता ने आदेश दिया। "भारतमाता की जय, गोआ छोड़ो" के नारों से आकाश गूँजने लगा। सैनिकों ने बंदूकें तान लीं। तरुण सत्याग्रही जमीन पर रेंगते हुये आगे बढ़ने लगे। उनमें से कोई भी तिरंगा झंडा ऊपर कर

ज्योंही सिर उठाता, गोलियों की वर्षा होने लगती। पानी की बड़ी बड़ी बूंदों और गोलियों की वर्षा को स्वातंत्र्य-देवता के करों से होनेवाली पुष्प-वर्षा समझकर मतवालों के मस्तक डोलने लगते और भीड़ से गीत सुन पड़ता,—

"सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल मे है।
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।"

तरुणों में आसाम, बंगाल, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, मद्रास उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, भारत के सभी राज्यों के निवासी थे पर उनमें से किसी के हृदय में यह विचार नहीं उठा कि गोआ बम्बई या महाराष्ट्र का अंग हो सकता है। उसके लिए हम क्यों लाठियों और गोलियों से जर्जर हों? सभी के हृदय से एक ही प्रतिध्वनि सुन पड़ती थी, 'गोआ हमारा है। गोआ भारत का है।" सभी की आँखों के सामने समूचे भारतवर्ष का चित्र झूल रहा था। सभी ने मानो प्रण कर लिया था, "हम गोआ के लिये मरेंगे, गोआ के लिए जियेंगे।" उन्ही प्रणधारियों में यह रोगिणी थी—सुभद्रा राय।